I.S.S.N 0971-9024

अर्हत् वचन

ARHAT VACANA

वर्ष - 14, अंक - 4 अक्टूबर-दिसम्बर 2002

Vol. -14, Issue-4 Oct.-Dec. 2002

सक्कारा (मिश्र) में अवस्थित ईसा पूर्व 2680-2565 कालीन एक प्रतिमा

(चित्र परिचय पृष्ठ 8 पर)

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

KUNDAKUNDA JNANAPIṬHA, INDORE

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ निदेशक मंडल (शोध समिति) की बैठक, इन्दौर (29.9.02)

चित्र में बायें से डॉ. प्रकाशचंद जैन (इन्दौर), श्री अजितकुमारसिंह कासलीवाल (कोषाध्यक्ष, इन्दौर), प्रो. नवीन सी. जैन (पूर्व निदेशक, इन्दौर), प्रो. गणेश कावडिया (डीन-समाज विज्ञान संकाय, इन्दौर), प्रो. सुरेशचन्द्र अग्रवाल (अध्यक्ष-गणित विभाग, मेरठ), श्री देवकुमारसिंह कासलीवाल (अध्यक्ष-ज्ञानपीठ, इन्दौर), प्रो. ए.ए. अब्बासी (निदेशक एवं पूर्व कुलपति, इन्दौर), डॉ. अनुपम जैन (सचिव-ज्ञानपीठ, इन्दौर), प्रो. पी.एन. मिश्र (डीन-प्रबंध विज्ञान संकाय, इन्दौर), प्रो. ललिताम्बा (डीन-मानविकी संकाय, इन्दौर), प्रो. एस.के. बंडी (इन्दौर), श्री सूरजमल बोबरा (इन्दौर)

इसी बैठक में चर्चारत सदस्यगण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

I.S.S.N. - 0971-9024

अर्हत् वचन
ARHAT VACANA

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ (देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर द्वारा मान्यता प्राप्त शोध संस्थान), इन्दौर द्वारा प्रकाशित शोध त्रैमासिकी

Quarterly Research Journal of Kundakunda Jñānapīṭha, INDORE
(Recognised by Devi Ahilya University, Indore)

वर्ष 14, अंक 4 — अक्टूबर – दिसम्बर 2002
Volume 14, Issue 4 — October - December 2002

डॉ. नेमीचन्द जैन स्मृति 'अहिंसा एवं शाकाहार' अंक

मानद - सम्पादक
डॉ. अनुपम जैन
गणित विभाग
शासकीय होल्कर स्वशासी विज्ञान महाविद्यालय,
इन्दौर - 452 017 भारत

HONY. EDITOR
DR. ANUPAM JAIN
Department of Mathematics,
Govt. Holkar Autonomous Science College,
INDORE - 452017 INDIA

☎ 0731 - 2787790, 2545421 ☐ E.mail : anupamjain3@rediffmail.com

❖ ❖ ❖

प्रकाशक
देवकुमार सिंह कासलीवाल
अध्यक्ष - कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ,
584, महात्मा गाँधी मार्ग, तुकोगंज,
इन्दौर 452 001 (म.प्र.)

PUBLISHER
DEOKUMAR SINGH KASLIWAL
President - Kundakunda Jñānapīṭha
584, M.G. Road, Tukoganj,
INDORE - 452001 (M.P.) INDIA

☎ (0731) 2545744, 2545421 (O) 2434718, 2539081, 2454987 (R)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादक मंडल / Editorial Board
वर्ष 2001 एवं 2002

प्रो. लक्ष्मी चन्द्र जैन सेवानिवृत्त प्राध्यापक - गणित एवं प्राचार्य जबलपुर - 482 002	**Prof. Laxmi Chandra Jain** Retd. Professor - Mathematics & Principal **Jabalpur - 482 002**
प्रो. राधाचरण गुप्त सम्पादक - गणित भारती, झांसी - 284 003	**Prof. Radha Charan Gupta** Editor - Gaṇita Bhāratī, **Jhansi - 284 003**
प्रो. पारसमल अग्रवाल रसायन भौतिकी समूह, रसायन शास्त्र विभाग ओक्लेहोमा विश्वविद्यालय, स्टिलवाटर OK 74078 USA	**Prof. Parasmal Agrawal** Chemical Physics Group, Dept. of Chemistry Oklehoma State University, **Stillwater** OK 74078 USA
डॉ. तकाओ हायाशी विज्ञान एवं अभियांत्रिकी शोध संस्थान, दोशीशा विश्वविद्यालय, क्योटो - 610 - 03 जापान	**Dr. Takao Hayashi** Science & Tech. Research Institute, Doshisha University, **Kyoto - 610 - 03 Japan**
श्री सूरजमल बोबरा निदेशक - ज्ञानोदय फाउन्डेशन इन्दौर - 452 003	**Shri Surajmal Bobra** Director - Jñānodaya Foundation **Indore** - 452 003
डॉ. महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज' शोधाधिकारी - सिरि भूवलय परियोजना इन्दौर - 452 001	**Dr. Mahendra Kumar Jain 'Manuj'** Research Officer - Siri Bhuvalaya Project **Indore** - 452 001

—— सम्पादकीय पत्राचार का पता ——

डॉ. अनुपम जैन 'ज्ञान छाया', डी - 14, सुदामा नगर, इन्दौर - 452 009 फोन/फैक्स : 0731 - 2787790	**Dr. Anupam Jain** 'Gyan Chhaya', D - 14, Sudama Nagar, **Indore** - 452 009 Ph./Fax : 0731 - 2787790

सदस्यता शुल्क / SUBSCRIPTION RATES

	व्यक्तिगत INDIVIDUAL	संस्थागत INSTITUTIONAL	विदेश FOREIGN
वार्षिक / Annual	रु./Rs. 125=00	रु./Rs. 250=00	U.S. $ 25=00
10 वर्ष हेतु / 10 Years	रु./Rs. 1000=00	रु./Rs. 1000=00	U.S. $ 250=00
सहयोगी सदस्य	रु./Rs. 2100=00	रु./Rs. 2100=00	U.S. $ 500=00

पुराने अंक सजिल्द फाईलों में रु. **500.00/U.S.$50.00** प्रति वर्ष की दर से सीमित मात्रा में उपलब्ध हैं। सदस्यता एवं विज्ञापन शुल्क के म.आ./चेक/ड्राफ्ट **कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ**, इन्दौर के नाम देय ही प्रेषित करें। इन्दौर के बाहर के चेक के साथ कलेक्शन चार्ज रु. 25/- अतिरिक्त जोड़कर भेजें।

लेखकों द्वारा व्यक्त विचारों के लिये वे स्वयं उत्तरदायी हैं। सम्पादक अथवा सम्पादक मण्डल का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं हैं। इस पत्रिका से कोई भी आलेख पुनर्मुद्रित करते समय पत्रिका के सम्बद्ध अंक का उल्लेख अवश्य करें। साथ ही सम्बद्ध अंक की एक प्रति भी हमें प्रेषित करें। समस्त विवादों का निपटारा इन्दौर न्यायालयीन क्षेत्र में ही होगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष - 14, अंक - 4, 2002

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

अनुक्रम / INDEX

अहिंसा एवं शाकाहार को समर्पित व्यक्तित्व - डॉ. नेमीचन्द जैन 5
□ डॉ. प्रकाशचन्द जैन, इन्दौर

सम्पादकीय : गुणात्मकता - आज की आवश्यकता 7

लेख / ARTICLES

Environment, Life Ethics and Jain Religion 9
□ Dr. N. P. Jain, Indore

आतंकवाद का मनोविज्ञान एवं अहिंसा के सिद्धान्त की प्रासंगिकता 15
□ डॉ. सरोज कोठारी, इन्दौर

अहिंसा की वैज्ञानिक आवश्यकता और उन्नति के उपाय 25
□ अजित जैन 'जलज', ककरवाहा

कीट हत्या : कारण, प्रभाव तथा बचाव 31
□ अजित जैन 'जलज' ककरवाहा

अहिंसा इतिहास के आलोक में 37
□ रामजीत जैन एडवोकेट, ग्वालियर

जैन संस्कृति और पर्यावरण 41
□ डॉ. विनोद कुमार तिवारी, रोसड़ा

मांसाहार और आधुनिक विज्ञान 45
□ डॉ. जगदीशप्रसाद, मेरठ

The Jaina Hagiography and the Ṣaṭkhaṇḍāgama 49
□ Dr. Bhuvanendra Kumar, Mississauga, Canada

षट्खंडागम और धवला, जयधवला, महाधवला आदि टीकाएँ 61
□ डॉ. गुलाबचन्द जैन, विदिशा

बडोह पठारी के प्राचीन जिनालयों का जैन सांस्कृतिक धरातल 69
□ डॉ. गुलाबचन्द जैन, विदिशा

जैन दर्शन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि 77
□ रामजीत जैन एडवोकेट, ग्वालियर

जैन परम्परा से जुड़ी माया सभ्यता 81
□ डॉ. जे. डी. जैन, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टिप्पणियाँ / SHORT NOTES

शाकाहार और स्वास्थ्य रक्षा पर भगवान महावीर के उपदेश 85
□ आर्यिका ऋद्धिश्री, संघस्थ

ध्रुवक्षेत्र अंटार्कटिका में शाकोत्पादन एवं शाकाहार 87
□ मनोजकुमार जैन 'निर्लिप्त', अलीगढ़

अग्निहोत्र क्रिया 91
□ मन्मथ पाटनी, इन्दौर

नई मांस योजना अस्वीकृत 94
□ चिरंजीलाल बगड़ा, कोलकाता

विस्मयकारी रहस्यमयी क्रापसर्कल्स 95
□ मन्मथ पाटनी, इन्दौर

अशोक स्तम्भ की संरचना में जैनधर्म का प्रभाव 97
□ डॉ. शीतलकुमार एवं डॉ. पवनकुमार जैन, वाराणसी

संग्रहालयों में जैन प्रतीकों की भ्रामक प्रस्तुतियाँ 99
□ डॉ. स्नेहरानी जैन, सागर

'जीवन क्या है?' पर शंका समाधान 101
□ डॉ. अनिलकुमार जैन, अहमदाबाद

आख्या / REPOTS

जैन श्रावकाचार पर राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी,
लखनऊ, 15 - 16 अगस्त 2002 103
□ डॉ. विजयकुमार जैन, लखनऊ

पुस्तक समीक्षाएँ / BOOK REVIEWS

ऋषिकल्प (डॉ. हीरालाल जैन स्मृति ग्रन्थ) 104
□ डॉ. अनुपम जैन, इन्दौर

शोध प्रबन्ध सारांश

जैन रामायणों में राम का स्वरूप 105
□ अनुपमा छाजेड़, इन्दौर

गतिविधियाँ 107

मत - अभिमत 113

लेखकों हेतु सन्देश 115

General Instructions to Authors 116

मुखपृष्ठ चित्र परिचय 8

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डॉ. नेमीचन्द जैन

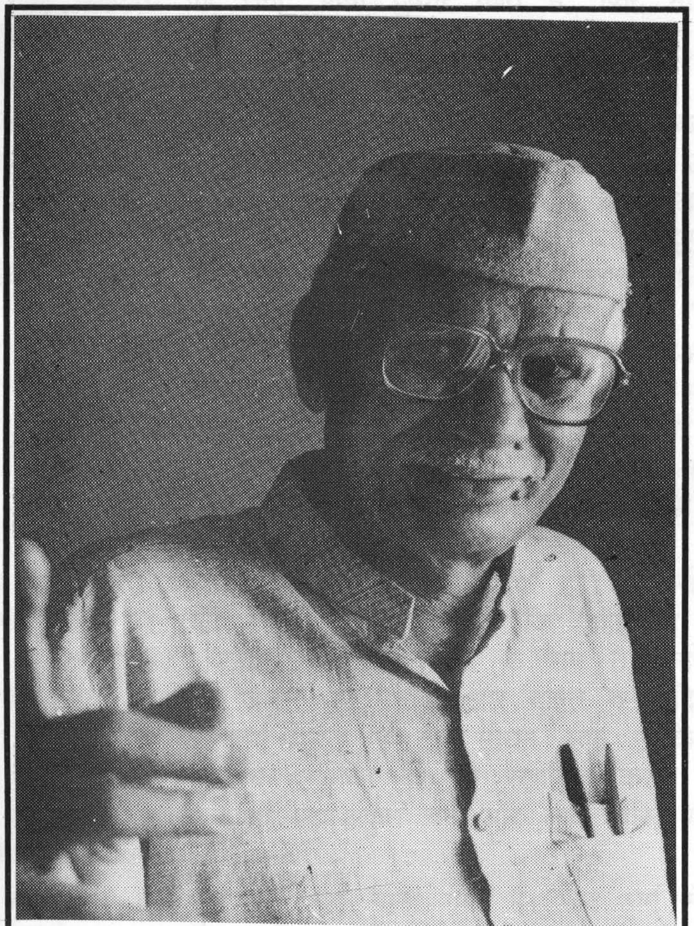

जन्म : 3.12.1927 निधन : 8.8.2001

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डॉ. नेमीचन्दजी जैन

अहिंसा और शाकाहार के लिये समर्पित व्यक्तित्व

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी डॉ. नेमीचन्द जैन को साधारणत: देख कर कोई नहीं कह सकता कि वे कवि, लेखक, पत्रकार, चिन्तक, शिक्षक, भाषा-विज्ञानी, समाज और मानवता के सच्चे सेवक हैं। मोटी खादी का कुर्ता-पाजामा, किश्ती नुमा टोपी, कंधे पर झोला और झोले में कुछ साहित्य, पैरों में नायलोन या कपडे की चप्पल या जूते देखकर कोई नहीं कह सकता कि वे बहुमुखी व्यक्तित्व वाले व्यक्ति हैं। इस छोटे से आलेख में उनके व्यक्तित्व को समेट पाना दुष्कर कार्य है, फिर भी थोड़ा बहुत प्रकाश डालते हुए मैं उनके अहिंसा और शाकाहार के प्रति समर्पण को ही रेखांकित करने का प्रयास कर रहा हूँ।

'सादा जीवन - उच्च विचार' के सूत्र को पूर्ण रूपेण आत्मसात करने वाले डॉ. साहब की सादगी का संकेत तो उपरोक्त पंक्तियों में मिल गया होगा, अब उनके व्यक्तित्व के प्रत्येक आयाम में उनके उच्च विचारों की झलक दृष्टव्य है। वे केवल पेशे से ही नहीं, पूर्ण समर्पित अध्यापक थे। शिक्षा के क्षेत्र में राजनीति के बढ़ते हुए हाथ के वे विरोधी थे, इस दिशा में उनकी संपादकीय में उन्होंने काफी प्रकाश डाला है। एक भाषाविद् होते हुए भी वे भाषाई दुराग्रहों के पक्षधर नहीं थे। वे लिखते हैं - 'केवल भाषाई दुराग्रहों के कारण सारा वातावरण ही विषाक्त हो गया है।' उन्होंने राजेनताओं को आगाह किया है कि वे भूगोल पर अपने भाषाई दुराग्रह को न थोपें। किसी भी राज्य की सीमा का आधार भाषा की अपेक्षा सांस्कृतिक, प्रान्तीय अथवा राष्ट्रीय होना चाहिये। एक चिन्तक होने के कारण वे सामाजिक चिन्तन के दुष्प्रभाव को बरदाश्त नहीं कर पाते थे। वे कहते हैं - 'आज आदमी का चिन्तन लकवा ग्रस्त है। कहने का ढंग लम्बा-चौड़ा और लुभावना है पर कथ्य बौना है।' राजनीतिज्ञों से वे कहते हैं कि ' समाजवादी समाज रचना की बात करते करते हम दिनोंदिन असामाजिक होते जा रहे हैं।' आज सत्ता के सुविधाभोगी होने पर व्यंग करते हुए वे कहते हैं कि 'कोई भी राष्ट्र सुभीतों से नहीं, संघर्षों से बनता है।' 'संयोगों की अनिवार्यता के भ्रम ने हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक या वैयक्तिक जीवन को पेचीदा और दूषित बना दिया है।' जब कोई व्यक्ति सेवा या जनहित के कार्य करता है तब साधन स्वयं उसके चरण स्पर्श करने पहुँचते हैं। यही नहीं पत्रकार की भूमिका को भी रेखांकित करते हुए वे कहते हैं कि वह देश की तमाम अराजकताओं पर अंकुश बने और लोक चरित्र की वस्तुनिष्ठा निष्पक्ष, निडर होकर समीक्षा करे।

अहिंसा को सभी धर्मों में परम धर्म माना गया है। जैन धर्म में तो उसकी सूक्ष्मतम व्याख्या करते हुए रागादि भावों को भी हिंसा कहा गया है। सभी को अपने प्राण प्यारे हैं और सभी सुख चाहते हैं। तभी तो हमें भगवान महावीर ने **'जियो और जीने दो'** का सूत्र दिया। पर आज वह मात्र नारा बन कर रह गया है। विश्व में चारों और हिंसक ताण्डव हो रहा है, हदें लांघती हिंसा हमें जरा भी विचलित नहीं कर पा रही है। यह ठीक ही कहा है कि इसके लिये राजनीति जिम्मेदार है। पर इतना कहकर हम घर में तो नहीं बैठ सकते। हमारी अहिंसा और करूणा के प्रति यह उदासीनता भी तो उतनी ही अक्षम्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीने का हक सब को है, पर आज मनुष्य ने विश्व जिजीविषा को चुनौती दी है। शरीर पोषण के नाम पर, रसना की लोलुपता मांसाहार को बढ़ावा मिल रहा है। सरकार भी मीडिया के माध्यम से उसका खुल कर प्रचार कर रही है, डालर की भूख ने उसे अंधा बना दिया है। विदेशों को बढ़ते मांस के निर्यात से होने वाली हानि से हमारी सरकार बेखबर है। वह कृषि एवं कत्लखाने में कोई अन्तर ही नहीं कर रही है, धड़ाधड़ कत्लखाने खुल रहे हैं। डॉ. साहब ने हमारी आँखें खोलने के लिये 'मांस निर्यात - 100 सत्य', 'कत्लखाने - 100 तथ्य', 'अण्डा - जहर ही जहर', अण्डा - 100 तथ्य', 'कत्लखानों का नर्क', 'हिंसा कत्ल क्रूरता' आदि कई पुस्तकें अत्यन्त सरल और सरस भाषा में लिखी हैं। यही नहीं उन्होंने कत्लखानों को भूकम्प का कारण निरूपित करने वाली वैज्ञानिक पुस्तक भी लिखी है। पश्चिमी संस्कृति की नकल से बढ़ रही फैशन की दीवानगी के लिये भी 'बेकसूर प्राणियों के खून में सने हमारे बर्बर शौक' जैसी कितनी ही मन को हिलाने वाली पुस्तकें लिखी हैं।

उनका मानना है कि यह हमारी संस्कृति पर क्रूर, बर्बर, निर्मम, बदहवास हमला है। हमें अहिंसा, करूणा और सह अस्तित्व की पुनः प्रतिष्ठा करनी पड़ेगी। उन्होंने शाकाहार को अहिंसक जीवन शैली निरूपित करते हुए शाकाहार की गुणवत्ता, शाकाहार ब्लू प्रिन्ट, शाकाहार ही क्यों?, आदि पुस्तकों में वैज्ञानिक महत्वपूर्ण आधारों पर शाकाहार की वकालत की है। इन छोटी-छोटी पुस्तकों, रोमांचक दास्तानों के माध्यम से हमें पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों तथा अन्य सभी प्राणियों के प्रति करूणा और सद्‌व्यवहार की अच्छी शिक्षा दी है। यही नहीं, 'शाकाहार क्रांति' और 'तीर्थंकर' मासिक पत्रों की सम्पादकीय के माध्यम से आपने विगत 15 वर्षों में शाकाहार की दिशा में प्रगति के साथ-साथ इस अभियान में आये उतार-चढ़ाव, चुनौतियों आदि का विशद विवेचन किया है। शाकाहार के इतिहास में ये दस्तावेजी पृष्ठ हमें दिशा दर्शन तो देंगे ही, साथ ही शाकाहार विषयक साहित्य की आधारभूत सामग्री भी प्रमाणित होगी। 'शाकाहार मानव सभ्यता की सुबह' शीर्षक उनकी कृति तो इस विषय की प्रतिनिधि पुस्तक है। अपनी कृतियों तथा सम्पादकीय में डाक्टर साहब ने देश-विदेश की पत्र-पत्रिकाओं के हवाले से चूहों के व्यंजनों की लोकप्रियता, नर शिशुओं का गोश्त परोसने आदि कई चौंकाने वाले तथ्य प्रस्तुत किये हैं।

हमें डॉ. सा. की कुछ सीखों की ओर ध्यान देना होगा- (1) विज्ञान के ईमानदार लोकप्रियकरण की गति तेज करें, (2) धर्म को उखड़ने न दें, (3) अंधविश्वासों, हिंसा, क्रूरता पर बंदिश लगायें, (4) मांसाहार के लिये होने वाली बर्बरताओं और क्रूरताओं को अविलम्ब रोकें, (5) झूठे विज्ञापनों की अनुमति न दें, (6) अहिंसा को सार्वजनिक जीवन के अन्तिम तल तक पहुँचायें, (7) उन व्यक्तियों को, उद्योगों, व्यवसायों, फर्मों, अभिकरणों आदि को दण्डित करें जो सार्वजनिक जीवन में हिंसा और क्रूरता, कत्ल और रक्तपात को जबरन थोप रहे हैं। यही उनके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

■ **डॉ. प्रकाशचन्द जैन**

सदस्य - निदेशक मंडल, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

गुणात्मकता - आज की आवश्यकता

अर्हत् वचन वर्ष - 14, अंक - 4 प्रस्तुत करते हुए हम हर्षित हैं। यह हमारे माननीय लेखकों एवं पाठकों के अनवरत सहयोग का प्रतिफल है। वर्ष - 14 का यह अंतिम अंक अहिंसा, शाकाहार एवं पर्यावरण संरक्षण को अपना जीवन समर्पित करने वाले हिन्दी साहित्य एवं जैन दर्शन के उद्भट विद्वान स्व. डॉ. नेमीचन्द जैन को समर्पित है। डॉ. नेमीचन्द ने अहिंसा एवं शाकाहार के प्रचार को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया फलत: हम उनके मिशन के अनुरूप प्रस्तुत अंक में अहिंसा एवं शाकाहार पर विशेष सामग्री प्रकाशित कर रहे हैं। हमारा विश्वास है कि स्व. डॉ. नेमीचन्दजी के प्रति यही सच्ची श्रद्धांजलि है।

18 अक्टूबर 1987 को स्थापित कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ ने अपनी स्थापना के 15 वर्ष पूर्ण कर लिये हैं। 1987 से 1995 तक प्रथम चरण में हमने आधारभूत सुविधाओं के विकास एवं प्राथमिक तैयारियों पर जोर दिया, फलत: 1995 में हमें देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर से कला एवं विज्ञान संकाय में शोध केन्द्र की मान्यता प्राप्त हुई। 1995 से 2002 के द्वितीय चरण में हमने अपनी गतिविधियों को विस्तार एवं उन्हें बहुआयामी बनाने पर जोर दिया। अनेक योजनाएँ एवं कार्यक्रम प्रारम्भ किये। अनेक सफल एवं कुछ असफल रहे। कुछ परियोजनाएँ पूर्ण तथा कुछ अपूर्ण रहीं। किन्तु प्रत्येक परियोजना से हमें नवीन जानकारियाँ, अनुभव एवं नया सीखने का अवसर प्राप्त हुआ। इन सबसे हमारी राष्ट्रीय पहचान बनी।

वर्ष 2003 से हम तृतीय चरण प्रारम्भ करने जा रहे हैं। इस चरण में गत अनुभवों का लाभ लेकर हम अपने कार्यक्रमों एवं योजनाओं की गुणात्मकता पर विशेष जोर देंगे। इसकी शुरुआत हम अर्हत् वचन से कर रहे हैं।अर्हत् वचन के विशेषांक के प्रकाशन के समय (सितम्बर - 88) से अब परिदृश्य बदल चुका है। जहाँ शोध पत्रिकाओं की संख्या बढ़ी हैं, वही उनके रंग - रूप, साज - सज्जा एवं विषयवस्तु में भी व्यापक परिवर्तन आया है। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में अर्हत् वचन के योगदान का मूल्यांकन हमारे सुधी पाठकों को ही करना है।

वर्ष 2003 अर्थात् अर्हत् वचन वर्ष - 15 का प्रथम अंक जनवरी 2003 में प्रकाश्य है। इस अंक में हम गत 14 वर्षों में प्रकाशित लेखों की सूची एवं कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ की गत 15 वर्षों की गतिविधियों का लेखा - जोखा प्रस्तुत करेंगे। हम इस अंक में अर्हत् वचन में अद्यतन प्रकाशित सामग्री की विभिन्न रीतियों से वर्गीकृत अधिकाधिक जानकारी प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे हैं। अर्हत् वचन के गत 14 वर्षों के विभिन्न विषयों के निष्णात लेखकों के पते भी उपलब्धतानुसार प्रकाशित किये जा रहे हैं। फलत: यह अंक शोधार्थियों के लिये एक बहुमूल्य दस्तावेज बन सकेगा, ऐसा हमें विश्वास है।

अर्हत् वचन के आगामी अंकों में प्रकाश्य सामग्री की गुणात्मकता में वृद्धि हेतु हम पूर्व घोषित कतिपय प्रावधानों पर एक बार पुन: माननीय लेखकों का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। प्रस्तुत अंक के पृ. 115 एवं 116 पर हम हिन्दी एवं अंग्रेजी में लेखकों के लिये अनुदेश पुन: प्रकाशित कर रहे हैं। भविष्य में अर्हत् वचन में आलेखों का प्रकाशन इन अनुदेशों का पालन करने पर ही संभव होगा। इससे मानकीकरण करने एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अर्हत् वचन में प्रकाशित सामग्री की समीक्षा (Review) संभव होगी। हमारा प्रयास इस पत्रिका को अन्तर्राष्ट्रीय मानकों के अनुरूप ले जाना है। हमें आशा ही नहीं अपितु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्ण विश्वास है कि जैन विद्या के अध्येता शोधकों का पूर्ण सहयोग हमें प्राप्त होगा।

हम स्वयं भी अर्हत् वचन के प्रत्येक अंक को समय पर प्रकाशित करने, प्रकाशनार्थ प्राप्त सामग्री की मूल्यांकन/समीक्षा अवधि कुछ माह तक सीमित करने, प्रकाशन अवधि को कम करने हेतु अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त करते हैं।

वर्ष 2001 एवं 2002 में प्रकाशन हेतु प्राप्त प्रकाशनाधीन/समीक्षाधीन किन्तु अमानकीकृत सामग्री हम माननीय लेखकों को इस आग्रह के साथ सखेद प्रेषित कर रहे हैं कि वे नवीन घोषित प्रारूप में संयोजित कर 2 प्रतियों में इसे पुन: प्रेषित करने का कष्ट करें। हम प्राथमिकता के आधार पर उनके प्रकाशन का निर्णय कर यथाशीघ्र सूचना प्रेषित करेंगे।

अर्हत् वचन में प्रकाशनार्थ अकादमिक सूचनायें, आख्याएँ संक्षिप्त रूप में यथासंभव सचित्र प्रेषित करें।

विगत 14 वर्षों में अपना निस्पृह सहयोग प्रदान करने वाले सम्पादक मंडल के माननीय सदस्यों, दि. जैन उदासीन आश्रम ट्रस्ट के ट्रस्टियों, विज्ञ लेखकों एवं सुधी पाठकों के प्रति हम कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं एवं आशा करते हैं कि प्रस्तावित परिवर्तनों के अन्तर्गत भी हमें उनका यथेष्ट सहयोग मिलता रहेगा।

हम विशेष रूप से ज्ञानपीठ के अध्यक्ष श्री देवकुमारसिंह कासलीवाल, निदेशक प्रो. ए. ए. अब्बासी एवं कोषाध्यक्ष श्री अजितकुमारसिंह कासलीवाल के प्रति आभार ज्ञापित करते हैं, जिनके समर्पण का ही प्रतिफल है अर्हत् वचन का नियमित प्रकाशन। पाठकों की प्रतिक्रियाओं का सदैव स्वागत है।

10.12.02 **डॉ. अनुपम जैन**

मुखपृष्ठ चित्र परिचय

सक्करा (मिश्र) में 2680 - 2565 ई.पू. की यह बैठी हुई प्रतिकृति हमारा ध्यान बरबस आकृष्ट करती है। भारत और मिश्र के प्राचीन सुदृढ़ सन्दर्भों के प्रकाश में इस कृति पर विचार किया जाना चाहिये। यह मान्यता है कि इस व्यक्ति ने मिश्र में लेखन का सूत्रपात किया। पद्मासन मुद्रा में बैठा यह शिल्प भारतीय अवधारणाओं के अनुसार है। मूर्ति का दिगम्बरत्व व शरीर व सिर का सीधापन जैन मुनियों का प्रतिरूप नजर आता है। किसी भी वैदिक और मिश्री अवधारणा में नग्न मुद्रा का चलन नहीं हैं किन्तु जैन परम्परा में नग्न मुद्रा प्रारम्भ से ही प्रचलित है।

यद्यपि इस शिल्प के साथ जैन या श्रमण शब्द का कहीं उल्लेख नहीं है, किन्तु शिल्पी सन्दर्भ में इसे जैन ही मानेंगे। यदि हम शिल्प के बनावट (Physiognomical) पर भी ध्यान दें तो वह भारतीय जैन मुद्रा के सिद्ध होते हैं।

इसी सन्दर्भ में जे. आर. एंथ्रोपोलाजी इन्स्टीट्यूट में 1927 में अपनी अध्यक्षीय भाषण में पी. के. ने कहा - 'मिश्र के राजा न केवल अन्न (गेहूँ व बार्ली) का आयात भारत से करते थे वरन् कुशल शिल्पियों का भी आयात करते थे। मिश्र की तीसरी पीढ़ी के राजा द्जोसर (Djosar) (2780 - 2762 ई.पू.) के काल में ऐसे आयातों के सन्दर्भ हैं।

सन्दर्भ : **The Aryan History of Vedic Period,** लेखक - K. C. Aryan and S. Aryan, पृ. 201 - 203

सूरजमल बोबरा
सदस्य - संपादक मंडल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Vol. 14, No. 4, 2002, 9-14

ARHAT VACANA
Kundakunda Jñānapītha, Indore

Environment, Life Ethics and Jain Religion

■ Dr. N.P. Jain *

Historic Opportunity for Revitalising Culture of Life Ethics

The Millennium world peace summit of Religious and Spiritual Leaders taking place at the United Nations symbolises a historic opportunity for sharing a vibrant culture of peace and justice for all living beings as well as the natural environment.

It is time for the input of spiritual vision and respect for ecological equilibrium to permeate our lives and deeds in order to stem the rot created by violent, reckless and exploitative mismanagement of earth's resources for human greed. Mahatma Gandhi, the 20th Century apostle of Non-violence used to say :

"The earth has enough for everyone's need
But not enough for everyone's greed"

The human community needs to take a collective initiative through the fellowship of world's religions and with the support of United Nations to forge an alliance between Science, Development, Preservation of environment and Spiritualism. Human ingenuity must be reinforced by revitalised culture of life-ethics & morality.

Total earth environment has to be changed for the better to promote **"Socially beneficial, peace fosterning and nature-friendly way of life".**

Spiritual ecological thinking alone can revitalise the divine web of interdependence not only in relations among human beings of different colour, caste, creed and social moorings pursuing different faiths, ideologies and religions, but also in relations of humanity with its ecological co-partners viz, all other living species and the natural environment of air, water, land and space.

Lord Mahāvīra Preached 2600 Years Ago!

"One who disregards the existence of earth,
water, fire, air and vegetation disregards one's
own existence which is entwined with them"

The aim should be to change the inner orientation, value-system and the whole mentality of the people at individual as well as community levels through a commonly agreed inter-faith plan of action inspired by what Jain Philosophy aptly describes as *"Parasparopagraho Jīvānāma"* meaningmutually supportive coexistence among all living species.

* Former Ambassador & Secretary, Ministry of External Affairs. Res.: E-50, Saket, Indore-452001

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

supportive coexistence among all living species.

Relevance of Jain Philosophy to Contemporary Environmental Crisis

In an increasingly environment conscious, tension-ridden and harmony-hungry world,humanity is beginning to realise the significance of adopting as a way of life the three fundamental tenets of Jainism viz. *Ahiṁsā* (Non-violence), *Anekānta* (Non-absolutism) and *Aparigraha* (Non-possession). **In essence Jainism is Ecology and Ecology is Jainism.**

(1) NON-VIOLENCE (AHIṀSĀ) :

There is increasing awareness of the relevance of the Jain concept of "Active Non-violence" for universal sustainability. In Jain scripture, active Non-violence implies that :

"A person should not act sinfully towards other living beings, nor cause others to act so, nor allow others to act so".

Non-violence is not limited to the stoppage of war and bloodshed. It must also stop human arrogance towards nature. In no other religions have thought action and expression covered together for non-violent behaviour and for evolving and environmental code of ethics that permeates every aspects of Jain Life. Mahatma Gandhi who drew inspiration from Jain Religion has observed :

"No religion of the world has explained the principle of non-violence as systematically and comprehensively in its applicability to life as Jainism".

Jain Philosophy puts Non-violence at the pedastal of **"Supreme Religion"** - not simply in terms of an idealised thought process but equally as an action plan for orienting, day-to-day life at the individual, societal, national and international level for promoting harmony, accommodation, tolerance and compassion and eradicating animosity, hatred, intolerance, cruelty and exploitation.

(2) NON-ABSOLUTISM (ANEKĀNTA) :

The culture of relativity in thinking brings about appreciation of multi-dimensional reality and sympathetic understanding of other related interpretations of facts, situations and events. Anekānta stimulates synthesis, open-minded unbiased understanding and harmonisation of different points of view. It strengthens in individuals and societies the fibre of tolerance, accommodation reconciliation and peace.

(3) NON POSSESSION (APARIGRAHA) :

Aparigraha inculcates the culture of need in place of greed, of avoiding wasteful consumption and unbridled pursuit of materialistic pleasures, and of voluntary self-restraint and discipline in utilising nature's resources. Non-violence is incomplete without voluntary curb on human extravagence.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The above three tenets form an integrated whole with non-absolutism and non-possession reinforcing non-violence. Non-violence strengthens the autonomy of life of every being, non-absolutism strengthens the autonomy of thoughts of every individual and non-possession strengthens the interdependence of all the existence. The three together go to fortify the foundation of peace and equanimity.

Non - Violence :

Earth is the only planet endowed with marvellous variety of forms of life and with an atmosphere, soils, forests, rivers and oceans. This splendid heritage can be preserved only through global commitment to the culture of non-violence. Wanton destruction and reckless exploitation of natural resources must cease. Time has come to bid farewell to the cult of violence which threatens to terrorize us all out of our very existence. Jain scripture "*Ācārānga*" describes : **"Non-violence is a thing for universal benefit"**

In inter-faith cooperation for better environment, common ground can and should be identified for initiating practical programmes to increase the practice of non-violence in day-to-day life of human beings at individual, collective, national and global levels. Here are some illustrative steps that need to be taken and multiplied :

(1) The Millennium Peace Summit should call for the preamble of U.N. Charter to be amended to include as a basic objective **"Promotion of a global culture of Non-violence among all living species and nature".** Such a commitment could also be incorporated in the constitutions/policy documents of different countries or special resolutions of their parliaments. This step would make for a stimulating start.

(2) **World-wide education in the culture of non-violence and training for peace should be organised.** All major universities should include it in their syllabi. Education in non-violence in schools, and research at Universities with particular attention paid for educating women and the youth would develop a yearning and a mental make up for reverence of life based on equanimity, tolerance, sobriety and compassion. Inspired by Late Rev. Ācārya Tulsī, Jain Vishwa Bharati Institute (deemed University) at Ladnun near Jaipur (India) is running a two year degree course in Non-violence and frequently organises special short term workshops concentrating upon.

(a) change of heart,

(b) change of attitude,

(c) change of life style,

(d) change of system and

(e) meditation and yoga (Prekṣa Dhyāna).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

International Seminars are also being organised inviting prominent educationists, exponents of non-violence environment, ecology and social reforms. Special training courses on life science culture have been organised for school teachers for all age groups of students. These are becoming very popular and educative for Jains & Non-Jains alike. The courses are secular. spiritual and ethical and there is no religions connotation given to them.

Such programme deserve international recognition and encouragement. It would be a good idea if under U.N. auspices an International Conference/Seminar is organised on education and training for Non-violence and its abiding relevance to both inner as well as outer environment. Institutions like the U.N. University for peace at Costa Rica could also usefully include non-violence in their training and teaching programmes.

UNESCO could take a lead in publishing series of books in all major languages of the world on folklores and folktales of different countries and mythological stories from different religions depicting love for peace and dedication to the concept of **"live and let live"**.

(3) **Promotion of vegetarianism can be a very visible and effective form of practising active non-violence.** For Jains it is an intergral element of the practice of active non-violence. Trend towards vegetarianism is already visible, but encouragement to voluntary enbrace of vegetarianism at this summit may prove extremely helpful. Vegetarianism has distinct spiritual, ethical and environmental connotation. Renowned experts have also testified to the nutritious and health-energising content of vegetarian diet. Unrestrained Non-vegetarianism is anti-environment as it involves merciless killing of innocent, voiceless and defenceless animals and birds at slaughter houses and rearing of animals exclusively to provide food for human consumption as it they are a food crop without any soul, emotions or sentiments. Already it is feared that 25% of earth's total biological diversity is at serious risk of extinction. If this continues, it would lead to a dangerous disturbance for the worse in the ecological balance. **We are killing the masterpieces of life on the planet and destroying life support system.**

Jain Guru Chitrabhanu has converted many Americans to vegetarianism over a period of three decades. Jain Ācārya Chandanaji at Vīrāyatana (Rajgiri) (near birth place of Lord Mahāvīra - Kundalpur) in Bihar State of India has persuaded a large number of tribals to give up eating meat and take to a vegetarian diet. Entire State of Gujarat became vegetarian since 1133 A.D. when the then King Kumarpal developed vegetarian culture under influence of Jain religion. Such programmes can be very usefully multiplied in all the continents. After all John Robinson has rightly observed :

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"A non-violent world has roots in a non-violent diet"

Let us remember that among animal lovers and vegetarians have been great philosophers, artists, statesman and mathematicians like pythogoras, Plutarch, Plato, Socrates, Leonardo de Vincy, Leo Tolstoy, George Bernard Shaw, Annie Besant, Albert Schweitzer, Mother Teresa, Mahatma Gandhi & Vinoba Bhave.

It is time to stop trading in meat-importing or exporting it. It is time to close down slaughter houses. It is time to give up making our stomaches a grave yard of dead animals. Time has come for the United Nations to recognise and protect" the right to life". World campaign for vegetarianism should take the line that vegetarianism makes eating a pure delight and celebration of communion with life and its natural environment.

Imagine the waste of resources through feeding animals on vegetables and dead meat in order to provide them as non-vegetarian food for humans, when more rationally humans and animals could all share nature's bounty of fruits and vegetables to survive and grow. A lot of fruits and vegetables is perishing daily unused all over the world.

(4) **Measures need to gain global momentum to control violence towards nature -** Earth is rapidly being plundered and forest cover is rapidly disappearing. In U.S.A. alone since 1960 the rate of deforestations as been one acre every second. Central America which had 1,30,000 sq. miles of rain forests in 1960 is now left with hardly 80,000 sq. miles cover. Air and water is getting heavily polluted, march of desert continues, global warming is affecting agriculture. If we do not judicious conserve and develop our water resources, 21 st Century may well face a global water crisis.

What is called for is dynamic sustainable development complementary to preservation of environment. At the same time environmental movement should not become anti-development particularly in developing countries. In major Jain pilgrimage countries on hill tops continuous afforestation and development of natural habitat is going on. Worldwide joint community and inter-faith programmes are required to promote reafforestation of denuded lands on hill tops plateaus and plains.

(5) **Global concern must manifest itself in protecting animal and bird life.** Jain Red Temple in New Delhi (India) has for years been running a bird clinic with great impact. Near Jain Temple at Halore (Jamnagar), Gujarat (India), a big cow shelter centre is flourishing which welcomes ailing cows for treatment and nourishment. Many such centres in India enjoy generous support of Jain Philanthropists.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Hunting for pleasures is gambling with life and a ban on it at global level would send the right signal for conservation of world's diversity at local community levels.

Non-possession :

Jain philosophy of "**Aparigraha**" (attitude and practice of non-possession, non-attachment and voluntary abstinence) encourages the restraint in consumption and limitation of wants. **The culture of unrestrained and wasteful consumption in affluent societies is a sinful violence and must be halted.**

(1) In the Jain way of life, periodic fasting is common. Fasting from one to several days without intake of any food keeps a person physically in control and spiritually more motivated.

We should consider calling for community fasting atleast for one day each month as a step towards conservation of earth's limited resources.

(2) The world community should encourage voluntary renunciation of such items of daily use as may involve killing of animals and birds. This is in line with growing international campaign against items like wink furs, shantoosh shawls or leather goods.

(3) An awareness campaign needs to launched all over the world to ensure that at wedding and other festivities, **there is no waste of food** and that the individuals develop the culture of not leaving any left overs in their plates. "**Waste not want not**" should be widely propagated. Mother Teresa used to lay considerable stress on this and she used to collect left overs for distribution to the needy and the hungry.

Jain Religion offers the comprehensive concept of "active non-violence" becoming a life force for promoting ethical, aesthetic and biological harmony and ecological equilibrium. This approach and attitude is of immense and urgent relevance to the world at large - a world dominated by over 6 billion human species who are rapidly sapping the earth's biological and environmental vitality and resource - strength.

Robert Muller - an ardent globalist echoed Jain Philosophy in his poem :

"Know this planet
love this planet
care for this planet

For you come from Mother earth
You are made of her elements
You are the earth become conscious of herself
Her mind and heart"

Received : 18.01.02

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष - 14, अंक - 4, 2002, 15 - 24·

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

आतंकवाद का मनोविज्ञान एवं अहिंसा के सिद्धांत की प्रासंगिकता

■ डॉ. सरोज कोठारी *

सारांश

हिंसा और आतंकवाद आज मानव समाज के लिए अभिशाप बने हुए हैं। आतंकवाद हिंसा के पेड़ पर लगा फल है व इसकी जड़े क्रोध, कामवासना, घृणा, द्वेष और आपसी दुश्मनी में हैं। आतंकवाद शब्द सुनते ही शरीर में सिहरन महसूस होने लगती हैं। इस शब्द में ही भय छुपा हुआ है। आज आतंकवाद विश्वव्यापी समस्या बन चुका हैं, आतंकवाद सभी राष्ट्रों की अस्मिता के लिए खतरा बन चुका हैं। मनोवैज्ञानिकों ने आतंकवाद के मनोविज्ञान को प्रस्तुत किया हैं। मस्तिष्क के कुछ भाग व हार्मोन का स्त्राव आक्रामकता के लिये उत्तरदायी हैं। मृत्यु मूल प्रवृत्ति ही आतंकवादियों द्वारा प्रदर्शित हिंसा का कारण हैं। आक्रामकता सदैव किसी कुंठा का परिणाम होती हैं और कुंठा सदैव आक्रामकता को जन्म देती हैं। आक्रामकता या हिंसा सीखा गया व्यवहार हैं। जब कोई व्यक्ति स्वयं को वंचित महसूस करता है तो निराशावश वह आत्मघाती आतंक की शरण में चला जाता हैं। आंतकवादियों में विशिष्ट व्यक्तित्व गुण मौजूद होते हैं इनमें विध्वंस व निरंकुशता की प्रवृत्ति प्रबल होती हैं। आंतकवादी समूह व संगठन कुछ विशिष्ट विशेषताओं से युक्त होते हैं।

*संसार में जब आतंकवाद का तांडव नजर आ रहा है तब ऐसी दशा में शांति की खोज करना स्वाभाविक हैं। मनोवैज्ञानिकों ने अहिंसा के मनोविज्ञान का उल्लेख किया हैं। स्वीकृति प्राप्त करने की इच्छा, अहिंसात्मक प्रतिरोध की श्रेष्ठता तथा अनुकरण की प्रक्रिया के कारण ही व्यक्ति अहिंसक प्रविधि को अपनाता हैं। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भगवान महावीर द्वारा बताया गया अहिंसा का सिद्धांत प्रासंगिक हैं। **''जीओ और जीने दो''** के संदेश को आत्मसात करने पर ही हिंसा के तांडव को समाप्त किया जा सकता हैं। हिंसा एक भावनात्मक बीमारी है। वह मानव की मानसिक अस्वस्थता का परिचायक है। मानव को स्वस्थ रखने के लिये आवश्यक है अहिंसा का प्रशिक्षण। शांति मानव की नैसर्गिक अवस्था हैं। मानव अस्तित्व के तमाम गौरवशाली अध्याय शांति के नाम दर्ज है, युद्ध के नाम नहीं। मनुष्य के श्रेष्ठतम गुण शांति के दौरान ही उभरकर आते हैं। युद्ध भूमि में लहराते किसी भी शस्त्र की चमक से अधिक ओजस्वी होता है शांति के एक-एक कण में प्रवाहित प्रकाश। अतः हिंसक प्रवृत्ति को त्यागकर अहिंसा का मार्ग अपनाना ही विश्वशांति की दृष्टि से श्रेष्ठ है।*

* सहायक प्राध्यापक - मनोविज्ञान, शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, इन्दौर - 452 017 (म.प्र.)
निवास - 117, कंचनबाग, इन्दौर - 452 001

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आतंकवाद -

अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हिंसक, अलोकतांत्रिक, अमानवीय तथा अवैध तरीकों का प्रयोग कर मनुष्य में आतंक फैलाना ही आतंकवाद हैं। आतंक का अर्थ भय उत्पन्न करना हैं। भय उत्पन्न करके अपने उद्देश्यों की पूर्ति करना ही आतंकवाद हैं। विश्व के राजनैतिक - सामाजिक जीवन में आतंकवाद नई घटना नहीं है। सर्वोच्च और शक्तिशाली लोगों का यही दर्शन था **''हमें जो चाहिये हम उसे किसी भी कीमत पर, किसी भी सूरत में हॉसिल करके रहेगें।** और उनकी कार्य प्रणाली थी **'कुछ को ऐसी सजा दो, जो लाखों में डर व्याप्त कर दे।''**

इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज में आतंकवाद का उल्लेख इस प्रकार है - **''आतंकवाद के द्वारा एक संगठित समूह या दल हिंसा के क्रमबद्ध उपयोग द्वारा अपने सुनिश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास करता है मृत्यु और विनाश उसकी योजना के अंग होते हैं।''**

भारत के इतिहास में हिरण्यकश्यप और कंस ने, मुगलकाल में चंगेज खाँ, नादिरशाह और औरंगजेब ने लोगों को आतंकित करने के लिये आतंकवाद को हथियार के रूप में अपनाया। समय परिवर्तन के साथ आज राजनैतिक, सामाजिक, दार्शनिक विचारधारात्मक या धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आतंकवाद प्रयोग में लाया जा रहा हैं। इक्कीसवीं सदी में मानवता के लिये अभिशाप बने आतंकवाद ने संपूर्ण विश्व के सामने कड़ी चुनौतियाँ खड़ी कर दी हैं। आज आतंकवादी न सिर्फ तोपों, बंदूकों, हथगोलों व बमों का प्रयोग कर रहे हैं अपितु अब जैविक युद्ध की आशंका भी बलशाली हो रही हैं। जैविक युद्ध से तात्पर्य चेचक व प्लेग के वायरस से बने उन खतरनाक बमों तथा गैस से है, जिनके छोड़े जाने से अत्यंत संक्रामक, घातक व जानलेवा रोग तीव्रता से फैलते हैं। आजकल मुख्य रूप से चार प्रकार का आतंकवाद दृष्टि गोचर हो रहा हैं - युद्ध आतंक, दमनात्मक आतंक, क्रांतिकारी आतंक तथा उपक्रांतिकारी आतंक (राजनैतिक तथा वैचारिक उद्देश्यों के लिये किये गये कृत्य)।

हिंसा और आतंकवाद आज मानव समाज के लिये अभिशाप बने हुए हैं। आतंकवाद शब्द सुनते से ही सिहरन महसूस होने लगती हैं। इस शब्द में ही भय छुपा हुआ हैं। आज आतंकवाद विश्वव्यापी समस्या बन चुका हैं, आतंकवाद सभी राष्ट्रों की अस्मिता के लिए खतरा बन चुका हैं। आतंकवादी बल प्रयोग को दिव्यास्त्र मानते हैं, तथा संहारक शक्ति की आराधना करते हैं। 11 सितम्बर - 2001 को अमेरिका की भयावह, वीभत्स तथा झकझोर देने वाली त्रासदी इस बात को रेखांकित करती हैं कि तुलनात्मक रूप से साधन विहीन चंद निरकुंश लोग संसार के सर्वाधिक सम्पन्न तथा सशस्त्र महाशक्ति को असहाय एवं निरूपाय साबित करने में किस सरलता से सफल हुए। सारी सैन्य शक्ति, सारी तकनीक व विज्ञान, सारे अस्त्र-शस्त्र, सारी गुप्तचर प्रणाली यूं ही धरी रह गई। भारत ने पंजाब में आतंकवाद की पीड़ा सही है, कश्मीर लगातार पाक-प्रायोजित आतंकवाद की वेदना सहन कर रहा हैं, अन्य प्रदेशों में भी आतंकवाद अंकुरित, पुष्पित व पल्लवित हो रहा हैं। सितम्बर में न्यूयार्क के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर तथा पेंटागन स्थित रक्षा विभाग पर हुए हमलों के पश्चात् भारत में संसद व अमेरिकन सेंटर पर हुए हमले आतंकवाद की जीती-जागती मिसाल हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आतंकवाद का मनोविज्ञान –

विश्व के प्रत्येक व्यक्ति के दिमाग में आज कई प्रश्न आ रहे हैं आखिर आतंकवादी क्या चाहते हैं? बार-बार असफल हो जाने पर भी वह कौन सी ताकत है जो उन्हें फिर से आक्रमण के लिये प्रेरित करती है? इन लोगों में आपस में एकता कैसे बनी रहती हैं? ऐसा कौन सा आवेग या उन्माद हैं जो उनके मनोबल को ऊँचा बनाये रखता हैं? मनोवैज्ञानिकों के अनुसार ऐसे तीन प्रमुख तत्व है जो आतंकवाद के लिये नैतिक धरातल तैयार करते हैं। इसी धरातल पर आतंकवाद सक्रिय होकर देश व राष्ट्र को विखंडित करता हैं। यह तीन तत्व हैं धर्म, भाषा और जाति। आतंकवाद को इन्हीं तीन तत्वों से प्राण वायु मिलती हैं, और उसका अस्तित्व बना रहता हैं। आक्रामकता तथा हिंसा से संबंधित विश्वव्यापी समस्या ''आतंकवाद'' के मनोविज्ञान को जानता नितांत आवश्यक हैं।

1. जैवकीय सिद्धांत –

आक्रामकता व हिंसा का आतंकवाद से अटूट संबंध हैं। हिंसा और आतंकवाद आज मानव समाज के लिये अभिशाप बने हुए हैं। आतंकवाद हिंसा के पेड़ पर लगा फल हैं व उसकी जड़े क्रोध, आक्रामकता, कामवासना, घृणा, द्वेष और आपसी दुश्मनी में हैं। इस दिशा में हुए अध्ययनों से यह स्थापित करने का प्रयास किया गया है कि आक्रामकता व हिंसा का संबंध मस्तिष्क से हैं। ब्रेडी व नाटा (1953) के अनुसार लिम्बिक प्रणाली का आक्रामक व्यवहार से संबंध होता हैं।[1]

हेस व एकर्ट (1955) के अनुसार हायपोथैलेमस का आक्रामकता से संबंध हैं। मस्तिष्क के एमिगडाला का संबंध आक्रामकता और आत्म विध्वंसकारी व्यवहारों से हैं।[2]

मेक्कावी व जेकलिन (1980) के अनुसार आक्रामकता का संबंध हार्मोन से होता हैं। पुरूषों में पाया जाने वाला सेक्स हार्मोन एन्ड्रोजन (टेस्टोस्टीरान) ही आक्रामक व्यवहार के लिये उत्तरदायी हैं।[3]

जैवकीय सिद्धांत के अनुसार आतंकवादियो द्वारा आक्रामक व हिंसक व्यवहार प्रदर्शित करने का कारण मस्तिष्क के विशेष भाग का उद्दीप्त होना या पुरूष सेक्स हार्मोन का अधिक स्त्राव हैं।

2. मूल प्रवृत्ति सिद्धांत –

शरीर शास्त्री इस बात को स्वीकार करते हैं कि हर इंसान के अंदर एक शैतान और हर नायक के अंदर एक खलनायक छुपा होता हैं, जो अगर हावी हो जाये तो नतीजा अक्सर संहार में निकलता हैं। आतंकवादियों द्वारा प्रदर्शित आक्रामक व हिंसक व्यवहार जन्मजात होता हैं। फ्रायड (1957) के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में दो तरह की मूल प्रवृत्ति पाई जाती हैं - जीवन मूल प्रवृत्ति (इरॉस) तथा मृत्यु मूल प्रवृत्ति (थैनेटॉस)। जीवन मूल प्रवृत्ति से व्यक्ति को रचनात्मक कार्य करने की प्रेरणा मिलती हैं जबकि मृत्यु मूल प्रवृत्ति से विध्वंसात्मक तथा आक्रामक कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त होती हैं। मृत्यु मूल प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति की दिशा अंतर्मुखी या बहिर्मुखी हो सकती हैं। यदि दिशा अंतर्मुखी होगी तो व्यक्ति आत्महत्या कर सकता हैं तथा यदि दिशा बहिर्मुखी होगी तो व्यक्ति दूसरों के प्रति आक्रामक व्यवहार प्रदर्शित कर सकता हैं।[4]

अपनी जान की परवाह किये बगैर दूसरों को तबाह करने वाले आतंकवादियों में (आत्माघाती / मानवबम) मृत्यु मूल प्रवृत्ति की ही प्रधानता होती हैं। इन्हें तो जान की परवाह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही नहीं होती हैं अतः इनको जान लेने का खौफ दिखाकर भी डराया नहीं जा सकता हैं।

लोरेन्स (1968) के अनुसार प्राणी स्वयं के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए आक्रामक / हिंसक व्यवहार प्रदर्शित करता हैं। प्रोद्यौगिकी विकास के कारण मानव की विध्वंसात्मक शक्ति में वृद्धि हो गयी हैं तथा निषेधात्मक प्रवृत्ति में कमी आ गई हैं। प्राणी में आक्रामक / हिंसक प्रवृत्ति जन्मजात है, जैसे ही व्यक्ति को बाह्य उत्तेजना मिलती हैं वह इस प्रवृत्ति को अभिव्यक्त करता हैं।[5]

3. कुंठा - आक्रामकता सिद्धांत -

डोलार्ड, डूब, मिलर, मावरर तथा सियर्स (1939) के अनुसार ''आक्रामकता सदैव किसी कुंठा का परिणाम होती है ''और कुंठा सदैव आक्रामकता को जन्म देती हैं।[6] कुंठा से आशय लक्ष्योन्मुख व्यवहार में बाधा या रूकावट पहुँचने से हैं। व्यक्ति तथा लक्ष्य के बीच बाधा उत्पन्न होने से व्यक्ति निराशा अनुभव करता हैं। यही कुंठा की दशा हैं। लक्ष्य प्राप्ति की इच्छा प्रबल हो तो बाधा उत्पन्न होने पर कुंठा की तीव्रता भी बढ़ जाती हैं। परिणामस्वरूप आक्रामक व्यवहार में भी वृद्धि हो जाती हैं। कुंठा से उत्पन्न आक्रामकता का प्रदर्शन सीधे उस व्यक्ति या वस्तु के प्रति होता हैं जो कुंठा उत्पन्न करने के लिये उत्तरदायी हैं। लेकिन यदि ऐसा संभव नहीं है तो आक्रामकता का विस्थापन भी हो जाता हैं अर्थात् आक्रामकता किसी अन्य व्यक्ति या वस्तु के प्रति प्रदर्शित होती हैं।

आतंकवादियों द्वारा हिंसक या आक्रामक व्यवहार प्रदर्शित करने का कारण कुंठा है जो कि लक्ष्य प्राप्ति में बाधा उत्पन्न होने के कारण पैदा होती हैं।

4. सामाजिक सीखना -

आतंकवाद ने आज पूरी दुनिया को हिला कर रख दिया हैं और इसी आतंकवाद ने जन्म दिया हैं मानव बम को। ऐसा घातक बम जिसका तोड़ आज की तारीख तक नहीं बन पया हैं। मानव बम के मामले में लिट्टे दुनिया का ''सबसे खूंखार संगठन है।'' एक धमाका, दिल दहला देने वाला धमका, फिर मच जाती है चीख - पुकार और चारों तरफ बिखरे दिखाई देते हैं इंसानी जिस्म के चिथड़े - चिथडे। मानव बम बनाये जाने का भी अपना एक इतिहास है - यह जापानी बौद्धों की देन मानी जाती हैं - जब जापान में बौद्ध धर्म अपने विकास के लिए संघर्षरत था, तभी धर्म के लिये अपने को बलिदान करने का यह विध्वंसक तरीका अपनाया गया। मानव बम की असली शुरूआत 20 वीं सदी में मानी जाती हैं जो ओकोनावा युद्ध के नाम से मशहूर हैं। इसका सबसे क्रूरतम रूप दिखा न्यूयार्क के वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर किया गया हवाई हमला। मानव बम बनाने की प्रक्रिया जन्म से ही शुरू हो जाती हैं जो माता - पिता लिट्टे के समर्थक होते हैं वे अपना एक बच्चा लिट्टे को समर्पित कर देते हैं। उन्हें बचपन से ही तमिलों पर सिंहलियों के अत्याचार की कथाएँ सुना - सुनाकर नफरत के बीज बोये जाते हैं। बच्चा जब दस साल का होता है तो उसे लिट्टे को सौंप दिया जाता है जहां उसे पांच साल तक शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रशिक्षण दिया जाता हैं उसके बाद उसे दो साल तक शरीर में विस्फोटक बांधने का प्रशिक्षण दिया जाता है। यह दुनिया का सबसे कठोर प्रशिक्षण हैं। आजकल कई जगह आतंकवाद का प्रशिक्षण देने के केन्द्र स्थापित हो चुके हैं।

बान्डुरा व वाल्टर्स (1963) के अनुसार आक्रामक / हिंसक व्यवहार सीखा गया व्यवहार हैं। व्यक्ति आक्रामक व्यवहार को सीखता है साथ ही यह भी सीखता है कि किन - किन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवस्थाओं में ऐसी अनुक्रिया से वांछित लक्ष्य की प्राप्ति में मदद मिलेगी। बान्डुरा ने आक्रामकता के तीन स्त्रोतों का उल्लेख किया है - निर्देश, प्रयास व भूल तथा अवलोकन। आक्रामक व्यवहार को कुंठित अनुभव, निर्देश, अवलोकन तथा प्रोत्साहन व पुरस्कार मिलने की आशा से उत्तेजना मिलती हैं। आक्रामक या हिंसक व्यवहार या तो स्वयं को संतोष मिलने के कारण या बाह्य पुरस्कार अनुमोदन, कष्ट से मुक्ति के कारण बलशाली होता है।[7]

आतंकवाद को बढ़ावा देने में जनसंचार के माध्यम जैसे समाचार पत्र, पत्रिकाओं, फिल्म, दूरदर्शन व इंटरनेट की भी अहम भूमिका हैं।

5. वंचित समूह -

मानव निर्मित परिस्थितियों ही आतंकवाद का आधार होती हैं। जब कोई भी मानव समूह समाज में अधिक शिक्षा, संपन्नता, शक्ति या संख्या के आधार पर अधिक प्रभावशाली बने समूह द्वारा निरंतर प्रताड़ित, वंचित अथवा दमित होता हैं, या ऐसा महसूस करता है, जब उसे अपनी पीड़ा की अभिव्यक्ति से वंचित कर दिया जाता है, उसे विश्वास में नहीं लिया जाता है एवं उसे न्याय पाने की कोई उम्मीद नहीं दिखाई देती हैं तो निरूपाय, असहाय हो वह निराशावश आत्मघाती आतंकवाद की शरण में चला जाता है। जीवन यापन के साधन, संस्कृति, मान्यता से बलपूर्वक वंचित होने वाला समूह अपने आपको निर्मम अत्याचार का शिकार महसूस करते हुए आतंकवाद की ओर आकर्षित होता है।[8]

6. विशिष्ट व्यक्तित्व -

आतंकवादियों में कुछ विशिष्ट व्यक्तित्व गुण एवं प्रवृत्तियाँ होती हैं। वे अहं-प्रतिरक्षात्मक प्रक्षेपण का बहुतायत से प्रयोग करते हैं। वे अपनी व्यक्तिगत न्यूनताओं और अक्षमताओं का कारण बाह्यजगत या बाह्य व्यक्तियों को मानते हैं। वे प्रतिरक्षात्मक महानता प्रदर्शित करते हैं अर्थात् दूसरों की भावनाओं की परवाह न कर स्वयं में ही लीन रहते हैं। इनकी विकृत पारिवारिक पृष्ठभूमि होने के कारण यह मुख्य रूप से दो प्रकार की अनुक्रियाएँ करते हैं। प्रथम, परिवार से पृथकीकरण होने के कारण परिवार से संबंधित सभी के प्रति आक्रामक व्यवहार प्रदर्शित करते हैं। दूसरी इनमें स्थानापन्न परिवार के लिये तीव्र इच्छा उत्पन्न होती हैं क्योंकि संबंधन की आवश्यकता इनमें प्रबल होती हैं। मनोवैज्ञानिक आघात तथा विशिष्ट व्यक्तित्व विशेषताओं के कारण वे समान विचार रखने वाले, जो अपनी अक्षमताओं के लिये वातावरण को दोषी ठहराते हों, की तलाश करते है। ऐसे लोगों से इनकी संबंधन की आवश्यकता पूर्ण हो जाती हैं। इस प्रकार आतंकवादी समूह का सदस्य बनकर व्यक्ति स्वयं की भग्न सामाजिक पहचान को पुनः जोड़ने का प्रयास करते हैं। आतंकवादियों में कुछ वैचारिक आतंकवादी होते हैं जैसे जर्मन रेड आर्मी या इटली की रेड ब्रिगेड्स। दूसरे प्रकार के आतंकवादी ''राष्ट्रवादी - अलगाववादी'' होते है जैसे फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन।

दुनिया भर में आतंक फैलाने वाले संगठन (लिट्टे) मानव बम के लिये ऐसे लोगों का चयन करते हैं जिनके पास जीने का कोई मकसद नहीं होता हैं, या जो गरीबी, बेरोजगारी, की मार से इतने हताश हो चुके होते है कि जीवन उनके लिये बेमानी हो चुका होता हैं, आतंकी उनमें नफरत का बीज बोकर एक मकसद तैयार करते हैं। ये व्यक्ति लक्ष्य पर ही ध्यान केन्द्रित करते हैं, नेता के प्रति समर्पण की भावना रखते हैं, पुनर्जन्म में इनकी कट्टर आस्था होती हैं, मुसीबतों से छुटकारा पाना चाहते हैं, भावुक व कमजोर होते हैं, धर्मभीरू होने के कारण इनमें आत्मघात करने की इच्छाशक्ति ज्यादा होती हैं। यह व्यक्ति मशीनी मानव (रोबोट) की तरह होते हैं जिनकी कोई विचारशक्ति नहीं होती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इनमें प्रेम, करूणा और समानता का भाव नदारद होता हैं। ''आतंकवादी मानवीय संबंध महसूस नहीं करते हैं तथा इनमे विध्वंस व निरंकुशता की प्रवृत्ति प्रबल होती हैं। यह बर्बर और आदिम आकांक्षा से युक्त होते हैं।[9]

दुनिया के स्तर पर आतंकवाद का विकराल तांडव नजर आ रहा हैं। इसके मूल में हैं आधिपत्य के संबंध, दूसरों पर आधिपत्य स्थापित करने की प्रवृत्ति, दूसरों के संसाधन हड़पने की प्रवृत्ति, गलत व सही सब तरीके अपनाकर दूसरों से आगे निकलने की प्रवृत्ति अपनी सुख-सुविधा पर केंद्रित होकर दूसरों के दु:ख दर्द को उपेक्षित करने की प्रवृत्ति।

7. आतंकवादी समूह की विशेषताएँ –

आतंकवादी समूह की सदस्यता से व्यक्तियों की संबंधन की आवश्यकता संतुष्ट होती हैं तथा उनकी वैयक्तिक पहचान स्थापित होती हैं। सदस्य समूह निर्णयों का अनुपालन करने लगते हैं तथा उन्हें समरूप व्यवहार करने की प्रेरणा मिलती है। आतंकवादी समूहों के संदेश प्रभावशाली, निरपेक्ष, परमवाद से ओत-प्रोत तथा केंद्रीकरण को प्रोत्साहित करने वाले होते हैं। आतंकवादी खतरे की आशंका के कारण समाज से अलग रहते हैं क्योंकि बाह्य समूह उनको डराता-धमकाता हैं। इसी आधार पर आतंकवाद को 'कल्पना युद्ध' की संज्ञा दी गई हैं। इसका तात्पर्य यह है कि विरोध, बाह्य खतरों और शत्रुओं के बावजूद भी आतंकवादी समूह अपने अस्तित्व को बनाये रखना चाहता हैं क्योंकि यह अपने सदस्यों की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए आवश्यक हैं। अत: जब वास्तविक खतरा या शत्रु न हो तो भी काल्पनिक रूप में उनको स्वीकार किया जाता हैं।

यदि आतंकवादियों का शक्तिशाली प्रतिरोध किया जायेगा तो कल्पना युद्ध वास्तविक युद्ध में परिणत हो जायेगा। यदि आतंकवाद से मुक्ति पाने के लिये समझौतावादी नीति अपनाई जाये तो उसे भी वह समूह अस्तित्व के लिये खतरनाक मानकर अस्वीकार कर देते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हैं कि आतंकवाद का जवाब प्रति - आतंकवाद नहीं हो सकता हैं। संसार की सारी शक्ति भी आतंकवाद को समाप्त नहीं कर सकती हैं, सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकती हैं। इसको समाप्त करने हेतु समस्या के कारणों की तह तक जाकर, वंचितों की बात को समझकर निर्णय लेना होगा।

8. आतंकवादी संगठनों की विशेषताएॅ –

छोटे आतंकवादी समूह एक बड़े आतंकवादी संगठन का हिस्सा होते हैं। आतंकवादी संगठनों में नेतृत्व की एक संरचित श्रृंखला होती हैं। नेतृत्व संगठन का निर्माण करने वाले समूहों के बाहर से होता हैं। अत: नेताओं और अनुयायियों में दूरी होती हैं। संगठन में संचार व्यवस्था अच्छी नहीं होती है क्योंकि गोपनीयता रखना उनके लिये अतिआवश्यक होता हैं अन्यथा उनके लिये खतरा पैदा हो सकता हैं। इसी वजह से संगठन में आंतरिक नियंत्रण शिथिल होता हैं। संगठन में किसी भी व्यक्ति की स्थिति या पद उसके क्रांतिकारी क्रियाकलापों तथा तीक्ष्णता पर निर्भर करता हैं। इसलिये व्यक्ति आक्रामक व्यवहार के लिये प्रेरित होता हैं। आतंकवादी संगठन आतंकवाद को एक साधन मानते हैं अर्थात लक्ष्य प्राप्ति के पश्चात भी वह स्वयं के अस्तित्व को बनाये रखते हैं।

अहिंसा –

भारतीय दर्शन और धर्म में 'दया', 'करूणा' को सर्वश्रेष्ठ मानवीय गुण माना गया हैं। करूणा और दया अहिंसा से संबंधित हैं। अहिसा का व्यापक अर्थ हैं विचार, वाणी और कर्म से किसी भी प्राणी को चोट न पहुँचाना। अहिंसा को मानने वाला ईश्वर के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतिरिक्त किसी से नहीं डरता हैं। गांधीजी ने अहिंसावादी प्रतिरोधक में साहस तथा बहादुरी जैसे गुणों को आवश्यक माना हैं। इसी आधार पर अहिंसा के तीन स्तरों - बहादुर व्यक्ति की अहिंसा, कमजोर आदमी की अहिंसा (जो कि वांछित परिणाम न मिलने पर अहिंसा को त्याग दे) और भीरू व्यक्ति की निष्क्रियात्मक अहिंसा का उल्लेख किया गया हैं। इनमें से प्रथम गुण है व शेष दो अवगुण। आतंकवादी गतिविधियाँ हिंसात्मक प्रतिरोध से और बढ़ती हैं। यदि शक्तिशाली प्रतिरोध नीति अपनाई जाये तो हो सकता है कि आतंकवादी संगठन विवश होकर कुछ समय के लिये अपनी क्रियाओं को रोक दे लेकिन उससे स्थायी हल नहीं हो पायेगा। आतंकवाद का मुख्य लक्ष्य लोगों में आतंक / भय उत्पन्न करना हैं। अत: आतंकवाद के प्रभाव को प्रभावहीन करने के लिये आवश्यक हैं कि जनता को आतंकवाद के प्रभावों के प्रति विसंवेदनाशील बनाया जाए। शासन यदि अपनी क्रियाओं को प्रतिरक्षात्मक बनाये रखे तथा आतंकवाद के प्रति उदासीनता या तटस्थता का प्रदर्शन करे तो आतंकवादी समूह / संगठन स्वतः नष्ट हो जायेगा। आतंकवाद के मनोवैज्ञानिक प्रभाव का मूल्यांकन करने हेतु आतंकवादी संदेशों के स्त्रोत की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं का विश्लेषण, संदेश की विषय वस्तु का विश्लेषण, प्रभावित होने वाले समूह का विश्लेषण तथा संदेश संप्रेषण के स्त्रोतों का विश्लेषण आवश्यक है।

अहिंसा का मनोविज्ञान -

1. स्वीकृति प्राप्त करने की आवश्यकता -

जब दो व्यक्तियों या समूहों के मध्य संघर्ष होता है तो प्रत्येक व्यक्ति या समूह अन्य व्यक्ति या समूह की स्वीकृति प्राप्त करने का इच्छुक होता हैं। आज व्यक्ति के समक्ष प्रमुख समस्या सम्मान प्राप्त करने की व स्वयं को शक्तिशाली सिद्ध करने की हैं। किसी भी संघर्ष में अपने देशवासियों तथा बाह्यराष्ट्रो की स्वीकृति आवश्यक होती हैं क्योंकि व्यक्ति को यह भय रहता हैं कि कहीं बड़ी गलती के कारण वह दूसरों की दृष्टि में अपने सम्मान को न खो दें। जब दो में से कोई एक अहिंसावादी तरीका अपना लेता है तो हिंसावादी तरीका अपनाने वाले का प्रयास व्यर्थ जाता हैं क्योंकि अहिंसक को मूकदर्शकों का समर्थन सहजता से प्राप्त हो जाता हैं।

2. अहिंसात्मक प्रतिरोध की श्रेष्ठता -

अहिंसात्मक प्रतिरोध हिंसक व्यक्ति के लिये दृश्यात्मक साधन का कार्य करता हैं। आक्रामक व्यक्ति अहिंसावादी व्यक्ति की मूक भाषा (अवाचिक संप्रेषण) से प्रभावित होकर उसी के समान व्यवहार करने लगता है, अहिंसावादी की निष्क्रियता हिंसावादी को आश्चर्यचकित कर देती हैं वह देखता है कि यह व्यक्ति न तो अपनी सुरक्षा के लिए कुछ कर रहा हैं न ही हिंसा की पीड़ा को प्रदर्शित कर रहा हैं परिणामस्वरूप हिंसावादी अपना पूर्ण ध्यान उस दिशा में केंद्रित कर देता हैं, अहिंसात्मक प्रविधि की श्रेष्ठता की ओर आकर्षण तथा हिंसक तरीकों के प्रति विकर्षण का भाव उत्पन्न हो जाता हैं। 'युद्ध भूमि में लहराते किसी भी शस्त्र की चमक से अधिक ओजस्वी होता हैं शांति के एक-एक कण से प्रवाहित प्रकाश। इस प्रकाश की ओर प्रवृत्त हो सराबोर हों और उसी में तलाशें भविष्य।'

3. अनुकरण की प्रक्रिया -

अनुकरणात्मक प्रक्रियाएँ जीवन पर्यन्त जारी रहती हैं। अहिंसक व्यक्ति हिंसक व्यक्ति के प्रति भी प्रेम और करूणा का भाव प्रदर्शित करता हैं। वह इस बात की कामना करता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं कि दूसरों को किसी भी प्रकार का आघात न पहुँचे चाहे स्वयं को आघात लग जाये। नैतिक दृढ़ता, प्रेम व करूणा, संयम, सहनशीलता, सहानुभूति, त्याग, क्षमा, सत्य और अहिंसा आदि से परिपूर्ण व्यक्ति को देखकर हिंसावादी व्यक्ति के भय, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, अहंकार, प्रतिद्वंदिता आदि अवगुण लुप्त हो जाते हैं।

अहिंसा के सिद्धांत की प्रासंगिकता -

संसार में सर्वत्र आतंकवाद का तांडव नजर आ रहा हैं ऐसी दशा में शांति की खोज करना स्वाभाविक हैं। शांति स्थापना हेतु प्रभावशाली संचार, आत्मसम्मान में वृद्धि, अनुकरणीय व्यवहार, प्रभावशाली वैचारिक विनिमय / संप्रेषण तथा समानानुभूति आदि मनोवैज्ञानिक तरीकों की अहम् भूमिका होती हैं। संसार में आतंक और हिंसा की प्रवृत्ति बढ़ रही है। हम विज्ञान और तकनीकी के युग में जी रहे हैं, मानव के भौतिकतावादी दृष्टिकोण के कारण जीवन में आध्यात्मिक मूल्यों और धार्मिक विश्वासों में कमी आती जा रही हैं। भगवान महावीर द्वारा बताये गये सिद्धांत जीवन जीने की एक ऐसी शैली हैं जिसे आत्मसात कर मनुष्य सुख व शांति से जीवनयापन कर सकता हैं तथा दूसरों के लिये भी सुख व शांति से जीने का मार्ग प्रशस्त कर सकता हैं।

यह सिद्धांत है - अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रम्हचर्य।

अहिंसा - किसी भी जीव को मत मारो, मत सताओं, मत हुकूमत करो, यह अहिंसा धर्म हैं।

सत्य - मन में जो हो वही भाव प्रदर्शित करों। क्रोध, लोभ, भय मत करों।

अचौर्य - इच्छाओं पर संयम रखों इच्छा से राग-द्वेष बढ़ता हैं यही दु:ख का कारण हैं।

अपरिग्रह - संग्रह करने की प्रवृत्ति से लालच बढ़ता हैं जो कि दु:ख का कारण हैं।

ब्रह्मचर्य - वाणी व दृष्टि का संयम। आत्मा की गहराईयों में रम जाना।

अहिंसा का इन सभी में सर्वोपरि स्थान हैं। विश्वस्तर पर भी यह धारणा स्थापित हो रही है कि किसी भी समस्या का स्थायी हल हिंसक तरीके से नहीं बल्कि अहिंसक ढंग से ही निकाला जा सकता है। बगैर भेदभाव के समस्त जीवों के प्रति समभाव ही अहिंसा है। अहिंसा के प्रत्यय को संसार के सभी धर्मों ने स्वीकार किया हैं। वेदों में कहा गया है कि ''सृष्टि के समस्त प्राणियों को मित्र मानों''[10], यहूदी धर्म में कहा गया है कि ''किसी को मत मारो''[10], ईसाई धर्म में ईसामसीह का कहना है कि ''शत्रु से भी प्यार करो''[11], इस्लाम धर्म में खुदा का विश्लेषण रहीम है अर्थात् समस्त विश्व पर दया करने वाला। हिन्दू धर्म के अनुसार ''अहिंसा से बढ़कर कोई धर्म नहीं है''[13]।

जैन चिंतकों के अनुसार हिंसा के 4 प्रकार हैं -

1. जानबूझकर की गई हिंसा (संकल्पी) या आक्रामक हिंसा -

यह हिंसा न तो आत्मरक्षा के लिये आवश्यक है और न ही जीवन के लिये। अत: सभी को इसका त्याग कर देना चाहिये क्योंकि इसका संबंध हमारी मानसिक प्रवृत्ति से हैं।

2. रक्षात्मक हिंसा -

इस प्रकार की हिंसा आत्मरक्षा, दूसरों की रक्षा या संपत्ति की रक्षा के लिये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की जाती है। इस हिंसा का उद्देश्य शांति बनाये रखना व न्याय प्राप्त करना हैं। बाह्य परिस्थितियाँ व्यक्ति को इस बात के लिये विवश कर देती है कि वह आत्मरक्षा या दूसरों की रक्षा के लिये हिंसक तरीका अपनाये। गृहस्थ व्यक्ति स्वयं को इस तरह की हिंसा से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं रख सकता हैं। गांधीजी ने विरोध के अहिंसक तरीके को सफलतापूर्वक अपनाया था। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति के लिये विरोध के अहिंसक तरीके से सफलता प्राप्त करना संभव नहीं हैं। सिर्फ वह व्यक्ति जो शरीर व भौतिक पदार्थों के प्रति अनासक्ति रखता हो तथा जिसका हृदय, ईर्ष्या - द्वेष से मुक्त हो वही अपने अधिकारों की रक्षा अहिंसक तरीके से कर सकता हैं। जैन धर्म के अनुसार रक्षात्मक क्रियाओं और युद्ध के दौरान होने वाली हिंसा की मात्रा को जितना संभव हो सके कम से कम करना चाहिये तथा निर्दोष व्यक्ति को तो किसी भी कीमत पर नहीं मारना चाहिये। जैन विचारकों ने अहिंसक युद्ध के तरीकों का तथा युद्ध में हिंसा की मात्रा कम से कम हो का उल्लेख किया हैं।

3. व्यावसायिक हिंसा -

इस प्रकार की हिंसा कृषि तथा उद्योग धंधों में होती हैं। जीविकोपार्जन के लिये तथा शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जानबूझकर की गई हिंसा से मुक्त रहना असंभव हैं। इस हिंसा को भी न्यूनतम करने का प्रयास करने का निर्देश है।

4. दैनिक क्रियाकलापों से संबंधित हिंसा -

इस प्रकार की हिंसा का संबंध दैनिक क्रिया कलापों जैसे - नहाना, भोजन बनाना, घूमना आदि से हैं। जैन धर्म में गृहस्वामी द्वारा जानबूझकर की गई हिंसा निषिद्ध हैं भले ही वह जीवन और व्यवसाय के लिये आवश्यक क्यों न हो। हिंसा के कुछ रूप हमारे जीवन में अवश्यंभावी हैं लेकिन इसका यह तात्पर्य कदापि नही है कि वर्तमान में अहिंसक आचरण अनुपयोगी हैं। जिस प्रकार हिंसा जीवन के लिए आवश्यक है उसी प्रकार अहिंसा मानव समाज के अस्तित्व के लिये आवश्यक हैं। पृथ्वी पर शांति स्थापित करने तथा समृद्धि की रक्षा करने का एक मात्र तरीका अहिंसा हैं। अहिंसा दुनिया का सबसे श्रेष्ठ व शक्तिशाली हथियार हैं और इसका मुकाबला कोई अणुबम भी नहीं कर सकता।

जैन धर्म में ''अहिंसा परमो धर्म'' माना गया हैं। जैन धर्म में दो तरह की हिंसा को स्वीकारा गया हैं द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा। भगवान महावीर ने विश्वशांति स्थापित करने के लिये तीन अहिंसक तरीकों का उल्लेख किया हैं - समभाव[14], प्रेम व मैत्री[15], सेवाभाव[16]। भगवान महावीर जिस धर्म की बात कहते हैं वह परस्पर प्यार का धर्म है, स्नेह सौहार्द्र का धर्म है, सद्भाव सदाचार का धर्म है, आत्मीयता अपनत्व का धर्म है।

अहिंसा अध्यापन का विषय उतना नहीं हैं, जितना अध्ययन और आचरण का। नागरिकों में अहिंसा चेतना का विकास हो, इसके लिये समाज व्यवस्था को भी अहिंसक बनाना होगा। मनुष्य को विधाता ने बुद्धि और तार्किक शक्ति दी हैं, जिससे वह हिंसा को नकार सकता हैं। इस व्याधि को समाप्त करने के लिये विवेक जागृत करने वाली शिक्षा का प्रसार होना चाहिए। हिंसा बढ़ रही है, क्योंकि उसका विधिवत प्रशिक्षण होता हैं, हिंसा की तरह अहिंसा का भी प्रशिक्षण मिलता रहे, तो हिंसा को रोका जा सकता हैं। राष्ट्र में सैनिक अकादमियाँ तो बहुत स्थापित हो गई लेकिन अब शांति अकादमियाँ स्थापित करना होगी।

वर्तमान समय में भगवान महावीर का (जीओ और जीने दो) का संदेश अत्यन्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रासंगिक हैं। अहिंसा से ही हिंसा का तांडव समाप्त होगा। महावीर, गौतम बुद्ध, ईसा-मसीह, महात्मा गांधी, मार्टिन लूथर किंग सभी ने अहिंसा का संदेश दिया हैं। सम्राट अशोक ने युद्ध की निरर्थकता को स्वीकार किया हैं। आतंकवाद विरोधी कानून ''प्रिवेन्शन ऑफ द टेरेरिज्म एक्ट (पोटा) भी कितना प्रभावशील होगा कहना मुश्किल हैं। हिंसा एक भावनात्मक बीमारी हैं यह मानव की मानसिक अस्वस्थता का परिचायक हैं। मानव को स्वस्थ रखने के लिये आवश्यक हैं अहिंसा का प्रशिक्षण। प्रशिक्षण का संबंध उपदेश से नहीं अपितु आचरण से हैं। अहिंसा को जीवन के साथ जोड़ना होगा, उसे आत्मसात करना होगा तभी प्रशिक्षण सार्थक हो पायेगा तथा विश्वशांति स्थापित हो पायेगी।

''आतंकवाद के तांडव को जड से मिटाना हैं,
अहिंसा की पताका को विश्व में फहराना हैं।
भगवान महावीर के ''जीओ और जीने दो'' के संदेश को,
जन-जन तक पहुँचाने का दायित्व जैनियों को निभाना हैं।''

REFERENCES

1. Brady, J.V. & Nauta, W.J.H. : Subcortical mechanisms in emotional behavior : affective changes following septal forebrain lesions in the albino rat. Journal of comparative and Physiological Psychology (1953).
2. Hess, W.R. & Akert, K.:Experimental data on role of hypothalamus in mechanism of emotional behavior. Archives of Neurology and Psychiatry (1955).
3. Maccoby E.E. & Jacklin C.N. : Sex differences in aggression. Child Development, 51.964-980 (1980)
4. Freud, S.:Instincts and their vicissitudes. In standard edition. Vol. 14. London : Hogarth Press, (1957)
5. Lorenz, K.:On aggression. New York : Bantom Books. (1968)
6. Dollard, J., Doob, L. Miller, N.E., Mowrer, O.H. & Sears, R.R. : Frustraton and Aggression. New Haven, Conn. Yale University Press. (1939).
7. Bandura, A., & Walters, R.H. : Social learning and personality development. New York : Holt, Rhinehart & Winston (1963).
8. Gurr, T.R. : Why men rebel. Princeton, N.J.:Princeton University Press (1970).
9. Adorno, T.W.:The authoritarian personality, New York : Harper. (1950).
10. महाभारत (अनुशासन पर्व), 115 / 19
11. Bible Old Testaments, Ten Commandments, Sermon on the mont.
12. Bible New Testaments, Sermon on the mount.
13. महाभारत (आदिपर्व), 11 / 13
14. आचारांग, 2 / 3 / 4
15. आवश्यक सूत्र, 4.5.
16. उत्तराध्ययन सूत्र, 29 / 43.

प्राप्त - 15.11.2002 (संशोधनोपरांत)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष - 14, अंक - 4, 2002, 25 - 30

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

अहिंसा की वैज्ञानिक आवश्यकता और उन्नति के उपाय

□ अजित जैन 'जलज' *

महावीर, अहिंसा और जैनधर्म तीनों एक दूसरे से इतने अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं कि किसी एक के बिना अन्य की कल्पना करना भी मुश्किल लगता है। अत: जैन धर्म की उन्नति हेतु अहिंसा की वैज्ञानिकता सिद्ध करना सर्वाधिक सामयिक प्रतीत होता है। स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी जैसे महामनीषी भी धर्म और विज्ञान के प्रबल पक्षधर रहे हैं।

जैन धर्म में अहिंसा का विशद विवेचन किया गया है तथा वर्तमान विज्ञान के आलोक में एक ओर जहाँ अहिंसक आहार से अपराध, खाद्य समस्या, जल समस्या और रोगों का निदान दिखायी देता है वहीं दूसरी ओर अहिंसा के द्वारा जैव विविधता संरक्षण एवं कीड़ों का महत्व भी दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार अहिंसा की जीव वैज्ञानिक आवश्यकता का अनुभव होने पर अहिंसा हेतु विभिन्न वैज्ञानिक उपाय, वृक्ष खेती, ऋषि - कृषि, समुद्री खेती, मशरूम खेती, जन्तु विच्छेदन विकल्प, अहिंसक उत्पाद विक्रय केन्द्र, इत्यादि हमारे सामने आते हैं।

यह सब देखने पर भारत के कतिपय वैज्ञानिकों के इस विचार की पुष्टि होती है कि आधुनिक विज्ञान का आधार बनाने में प्राचीन भारत का अमूल्य योगदान रहा है।[1] इसके साथ प्रसिद्ध गांधीवादी चिंतक स्व. श्री यशपाल जैन द्वारा अपने जीवन भर के अनुभवों का निचोड़, मुझको निम्नलिखित रूप में लिखने का औचित्य भी समझ में आता है कि - 'वर्तमान युग की सबसे बड़ी आवश्यकता विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय की है।'

(अ) अहिंसा का जैन धर्म में महत्व -

जैन धर्म में जीवों का विस्तृत वर्गीकरण कर प्रत्येक जीव की सुरक्षा हेतु दिशा - निर्देश अनेक स्थानों पर मिलते हैं। जैन शास्त्रों में माँस के स्पर्श से भी हिंसा बतायी गई है।[2] त्रस हिंसा को तो बिल्कुल ही त्याज्य बताया गया है।[3] निरर्थक स्थावर हिंसा भी त्याज्य बताई गई है।[4] धर्मार्थ हिंसा[5], देवताओं के लिये हिंसा[6], अतिथि के लिये हिंसा[7], छोटे जीव के बदले बड़े जीवों की हिंसा[8], पापी को पाप से बचाने के लिये मारना[9], दुखी[10] या सुखी को मारना[11], एक के वध में अनेक की रक्षा का विचार[12], समाधि में सिद्धि हेतु गुरु का शिरच्छेद[13], मोक्ष प्राप्ति के लिये हिंसा[14], भूखे को भी माँसदान[15] - इन सब हिंसाओं को हिंसा मानकर इनको त्यागने का निर्देश है और स्पष्ट कहा गया है कि जिनमत सेवी कभी हिंसा नहीं करते।[16]

इनके अलावा अहिंसा के संबंध में कुछ अन्य जिनसूत्र भी दृष्टव्य हैं - 'ज्ञानी होने का सार यही है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा ना करे'[17], 'सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना नहीं इसलिये प्राण वध को भयानक मानकर निर्ग्रन्थ उसका वर्जन करते हैं'[18], 'जीव का वध अपना ही वध है, जीव की दया अपनी ही दया है'[19], 'अहिंसा के समान कोई धर्म नहीं है'[20]।

(आ) जीवन के आलोक में अहिंसा

1. आहार और अपराध - सात्विक भोजन से मस्तिष्क में संदमक तंत्रिका संचारक (न्यूरो इनहीबीटरी ट्रांसमीटर्स) उत्पन्न होते हैं जिनसे मस्तिष्क शांत रहता है वहीं असात्विक

* अध्यापक, वीर मार्ग, ककरवाहा जिला टीकमगढ (म.प्र.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(प्रोटीन/माँस) भोजन से मस्तिष्क में उत्तेजक तंत्रिका संचारक (न्यूरो एक्साइटेटरी ट्रांसमीटर्स) उत्पन्न होते हैं जिससे मस्तिष्क अशांत होता है।[21]

गाय, बकरी, भेड़ आदि शाकाहारी जन्तुओं में सिरोटोनिन की अधिकता के कारण ही उनमें शान्त प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं, जबकि मांसाहारी जन्तुओं जैसे शेर आदि में सिरोटोनिन के अभाव से उनमें अधिक उत्तेजना, अशांति एवं चंचलता पायी जाती है।

इस परिप्रेक्ष्य में सन् 1993 में जर्नल आफ क्रिमिनल जस्टिस एजूकेशन में फ्लोरिडा स्टेट के अपराध विज्ञानी सी. रे. जैम्फेरी का वक्तव्य भी महत्वपूर्ण हो जाता है कि वजह चाहे कोई भी हो, मस्तिष्क में सिरोटोनिन का स्तर कम होते ही व्यक्ति आक्रामक और क्रूर हो जाता है। अभी हाल में शिकागो ट्रिब्यून में प्रकाशित अग्रलेख भी बताता है कि 'मस्तिष्क में सिरोटोनिन की मात्रा में गिरावट आते ही हिंसक प्रवृत्ति में उफान आता है'।[22]

यहाँ यह बताना उचित होगा कि माँस या प्रोटीन युक्त भोज्य पदार्थों से, जिनमें ट्रिप्टोफेन नामक एमीनो अम्ल नहीं होता है मस्तिष्क में सिरोटोनिन की कमी हो जाती है एवं उत्तेजक तंत्रिका संचारकों की वृद्धि हो जाती है। योरोप के विभिन्न उन्नत देशों में नींद ना आने का एक प्रमुख कारण वहाँ के लोगों का माँसाहारी होना भी है।[23]

उपरोक्त सिरोटोनिन एवं अन्य तंत्रिका संचारकों की क्रिया विधि पर काम करने पर श्री पॉल ग्रीन गार्ड को सन् 2000 का नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ है।[24]

2. आहार और खाद्यान्न समस्या – वैज्ञानिकों का मानना है कि विश्व भर के खाद्य संकट से निपटने के लिये अगले 25 वर्षों में खाद्यान्न उपज को 50 प्रतिशत बढ़ाना होगा।[25]

इस समस्या का सुन्दर समाधान अहिंसक आहार शाकाहार में ही संभव है। एक कि.ग्रा. जन्तु प्रोटीन (माँस) हेतु लगभग 8 कि.ग्रा. वनस्पति प्रोटीन की आवश्यकता होती है। सीधे वनस्पति उत्पादों का उपयोग करने पर मांसाहार की तुलना में सात गुना व्यक्तियों को पोषण प्रदान किया जा सकता है।[26]

किसी खाद्य श्रृंखला में प्रत्येक पोषक स्तर पर 90% ऊर्जा खर्च होकर मात्र 10% ऊर्जा ही अगले पोषक स्तर तक पहुँच पाती है। पादप प्लवक, जन्तु प्लवक आदि से होते होते मछली तक आने में ऊर्जा का बड़ा भारी भाग नष्ट हो जाता है और ऐसे में एक चिंताजनक तथ्य यह है कि विश्व में पकड़ी जाने वाली मछलियों का एक चौथाई भाग माँस उत्पादक जानवरों को खिला दिया जाता है।

इस प्रकार विकराल खाद्यान्न समस्या का एक प्रमुख कारण माँसाहार तथा एकमात्र समाधान शाकाहार ही है।

3. आहार और जल समस्या – विश्व के करीब 1.2 अरब व्यक्ति साफ पीने योग्य पानी के अभाव में हैं। ऐसा अनुमान लगाया गया है वर्ष 2025 तक विश्व की करीब दो तिहाई आबादी पानी की समस्या से त्रस्त होगी। विश्व के 80 देशों में पानी की कमी है। इस समस्या के संदर्भ में 'एक किलोग्राम गेहूँ के लिये जहाँ मात्र 900 लीटर जल खर्च होता है वहीं गोमाँस के उत्पादन में 1,00,000 लीटर जल खर्च होता है'[27], तथ्य को ध्यान में रखने पर अहिंसक आहार शाकाहार द्वारा जल समस्या का समाधान भी दिखायी दे जाता है।

4. आहार और बीमारियाँ – विश्व स्वास्थ्य संगठन (W.H.O.) की बुलेटिन संख्या 637 के अनुसार माँस खाने से शरीर में लगभग 160 बीमारियाँ प्रविष्ट होती हैं।[28]

शाकाहार विभिन्न व्याधियों से बचाता है। अधिकांश औषधियाँ वनस्पतियों से ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पन्न होती हैं।

हरी सब्जियों में उपस्थित पोषक तत्व तथा विटामिन 'ई' एवं 'सी' प्रति आक्सीकारकों की तरह कार्य करते हैं। अल्सहाइमर रोग से बचाने में इन प्रति आक्सीकारकों की ही भूमिका होती है। शरीर से मुक्त मूलकों की सफाई में प्रति आक्सीकारक अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। मुक्त मूलक कैंसर सहित अनेक घातक रोगों के लिये उत्तरदायी होते हैं।[29]

5. जैव विविधता संरक्षण और जीवदया - गत 2000 वर्षों में लगभग 160 स्तनपायी जीव, 88 पक्षी प्रजातियाँ लुप्त हो चुकी हैं और वैज्ञानिक अनुमान के अनुसार आगामी 25 वर्षों में एक प्रजाति प्रति मिनिट की दर से विलुप्त हो जायेंगी।[30]

विभिन्न खाद्य श्रृंखलाओं के द्वारा समस्त जीव जन्तु एवं वनस्पति आपस में उस तरह से प्राकृतिक रूप से जुड़े हुये है कि किसी एक के श्रृंखला से हटने या लुप्त हो जाने से जो असंतुलन उत्पन्न होता है, उसकी पूर्ति किसी अन्य के द्वारा असंभव हो जाती है।

उदाहरणार्थ - प्रतिवर्ष हमारे देश में 10 करोड़ मेंढक मारे जाते हैं। पिछले वर्ष पश्चिमी देशों को निर्यात करने के लिये 1000 टन मेंढक मारे गये। यदि ये मेंढक मारे नहीं जाते तो प्रतिदिन एक हजार टन मच्छरों और फसल नाशी जीवों का सफाया करते।[31]

इस प्रकार से प्रकृति में हर जीव जन्तु का अपना विशिष्ट जीव वैज्ञानिक महत्व है और मनुष्य जाति को स्वयं की रक्षा हेतु अन्य जीव जन्तुओं को भी बचाना ही होगा, अहिंसा की धार्मिक भावना तथा वैज्ञानिकों की सलाह इस संबंध में एक समान है।

6. कीटनाशक और कीड़ों का महत्व - प्रत्येक जीव की तरह कीड़ों का भी बहुत महत्व होता है। दुनिया के बहुतेरे फूलों के परागण में कीड़ों का मुख्य योगदान रहता है अर्थात् पेड़ पौधों के बीज एवं फल बनाने में कीड़े महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। अनेक शोधकर्त्ताओं ने यह पाया कि जिस क्षेत्र में कीटनाशकों का अधिक उपयोग होता है वहाँ परागण कराने वाले कीड़ों की कमी हो जाती है और फसल की उपज पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।[32]

भारत में कीट पतंगों की 131 प्रजातियाँ संकटापन्न स्थिति में जी रही हैं। ऐसे में कीटनाशक के बढ़ते उपयोग और उसके होने वाले दुष्प्रभावों से वैज्ञानिक भी चिंतित हो बैठे हैं।[33]

विश्व में प्रतिवर्ष 20 लाख व्यक्ति कीटनाशी विषाक्तता से ग्रसित हो जाते हैं जिनमें से लगभग 20 हजार की मृत्यु हो जाती है।[34] यही कारण है कि विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 129 रसायनों को प्रतिबन्धित घोषित कर रखा है।

कीटनाशक जहर जैसे होते हैं और ये खाद्य श्रृंखला में लगातार संग्रहीत होकर बढ़ते जाते हैं, इस प्रक्रिया को जैव आवर्धन (Bio Concentration) कहते हैं। उदाहरण के लिये प्रतिबन्धित कीटनाशक डी.डी.टी. की मात्रा मछली में, अपने परिवेश के पानी की तुलना में दस लाख गुना अधिक हो सकती है। और इन मछलियों को खाने वालों को स्वाभाविक रूप से अत्यधिक जहर की मात्रा निगलनी ही पड़ेगी।[35] यही प्रक्रिया अन्य माँस उत्पाद के साथ भी लागू होती है। खाद्यान्न की तुलना में, खाद्यान्न खाने वाले जन्तुओं के माँस में कई गुना कीटनाशक जमा रहेगा जो अन्ततः माँसाहारी को मारक सिद्ध होगा।

अतएव कीड़ों का बचाव, कीटनाशकों का उपयोग रोकना अर्थात् अहिंसा का पालन वैज्ञानिक रूप से भी आवश्यक हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

7. **प्राकृतिक आपदायें और हिंसा** - प्रकृति अपने विरुद्ध चल रहे क्रियाकलापों को एक सीमा तक ही सहन करती है और उसके बाद अपनी प्रबल प्रतिक्रिया के द्वारा चेतावनी दे ही देती है। दिल्ली विश्वविद्यालय में भौतिकी के तीन प्राध्यापकों डॉ. मदन मोहन बजाज, डॉ. इब्राहिम तथा डॉ. विजयराज सिंह ने स्पष्ट गणितीय वैज्ञानिक गवेषणाओं द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि दुनिया भर में होने वाली समस्त प्राकृतिक आपदाओं - सूखा, बाढ़, भूकम्प, चक्रवात का कारण हिंसा और हत्याएँ हैं।

(क) अहिंसा उन्नति के वैज्ञानिक उपाय -

1. **वृक्ष खेती** - अनेक वृक्षों के फल फूलों के साथ उनके बीज भी अच्छे खाद्य हैं। उनका उत्पादन 10 - 15 टन प्रति हेक्टेयर प्रतिवर्ष होता है जबकि कृषि औसत उत्पादन 1.25 टन प्रतिवर्ष ही है। वृक्ष खेती में किसी प्रकार के उर्वरक, सिंचाई, कीटनाशक की भी आवश्यकता नहीं होती है।[36]

इस तरह से वृक्ष खेती के द्वारा खाद्यान्न समस्या और जल समस्या का और भी कारगर समाधान तो होता ही है, यह विधि अहिंसा से अधिक निकटता भी लाती है।

2. **ऋषि - कृषि** - जापानी कृषि शास्त्री मासानोबू फ्यूकुओका ने इस कृषि प्रणाली को जन्म दिया है। इसमें रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशकों इत्यादि का बिल्कुल उपयोग नहीं किया जाता। यहाँ तक कि भूमि में हल भी नहीं चलाया जाता है। बीज यूँ ही बिखेर दिये जाते हैं। खरपतवारों को भी नष्ट नहीं किया जाता है। इस प्राकृतिक खेती द्वारा फ्युकुओका ने एक एकड़ भूमि से 5 - 6 टन धान उपजाकर पूरी दुनिया को चकित कर दिया है।[37]

अहिंसक खेती के प्रवर्तन पर इस जापानी महामना को मैगसेसे पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है। प्रथम जैन तीर्थकर आदिनाथ द्वारा प्रतिपादित 'कृषि' की ही इस खोज (Research) को बढ़ावा देना क्या हम अहिंसक अनुयाइयों का कर्त्तव्य नहीं बनता है? महावीर, अहिंसा अथवा आदिनाथ की पावन स्मृति में स्थापित कोई पुरस्कार इस ऋषि तुल्य जापानी को क्या नहीं दिया जाना चाहिये?

3. **समुद्री खेती** - समुद्र की खाद्य श्रृंखला को देखने पर पता चलता है कि वहाँ पादप प्लवकों द्वारा संचित 31080 KJ ऊर्जा, बड़ी मछली तक आते आते मात्र 126 KJ बचती है।[38] ऐसे में यह विचार स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्यों ना भोजन के रूप में पादप प्लवकों का सीधे प्रयोग करके विशाल ऊर्जा क्षय को तो रोका ही जाये, हमारी खाद्य समस्या को भी सरलता से हल कर लिया जाये।

समुद्री शैवालों का विश्व में वार्षिक जल संवर्द्धन उत्पादन लगभग 6.5 x 1,00,00,000 टन है। जापान तथा प्रायद्वीपों सहित दूरस्थ पूर्वी देशों में इसके अधिकांश भाग का सब्जी के रूप में उपयोग किया जाता है। समुद्री घासों में प्रोटीन काफी मात्रा में पायी जाती है। इसमें पाये जाने वाले एमीनो अम्ल की तुलना सोयाबीन या अण्डा से की गई है।[39]

मेरे मत से तो मछली पालन के स्थान पर 'पादप - प्लवक - पल्लवन' से अहिंसा, ऊर्जा एवं धन तीनों का संरक्षण किया जा सकता है।

(4) मशरूम खेती - फफूंद की एक किस्म मशरूम, प्राचीन समय से खायी जाती रही है। यदि मशरूम की खेती को प्रोत्साहित और प्रवर्तित किया जाये तो यह अंडों का उत्तम विकल्प बन सकती है। चूंकि इसका पूरा भाग खाने योग्य होता है, अधिक भूमि की आवश्यकता नहीं होती है, रोशनी की अधिक आवश्यकता नहीं होती है, यह कूड़े करकट पर उग सकता है तथा खनिजों का खजाना होता है इसलिये यह आम आदमी का उत्तम नाश्ता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो सकता है। मशरूम के प्रोटीन में सभी आवश्यक अमीनो अम्ल भी पाये जाते हैं जो इसे श्रेष्ठ आहार बनाते हैं।

(5) अहिंसक नव निर्माण - (क) ब्ल्यू क्रॉस ऑफ इंडिया (चेन्नई) ने कम्प्यु फ्राग, काम्प्यु रैग शीर्षकों से साफ्टवेअर विकसित किये हैं जिनके प्रयोग से देश की शिक्षण संस्थाओं में लाखों मेंढ़कों, चूहों की हिंसा को समाप्त किया जा सकता है। (ख) ब्यूटी विदाउट क्रुयेल्टी, पुणे ने लिस्ट ऑफ आनर के माध्यम से अहिंसक सौंदर्य प्रसाधनों की प्रामाणिक सूची प्रस्तुत की है। इस प्रकार के कार्य को और व्यापक बनाना चाहिये। (ग) विभिन्न वैज्ञानिक जैव प्रौद्योगिकी द्वारा ऐसे बीज तैयार कर रहे हैं जिनसे वह कीट प्रतिरोधी पौधे उत्पन्न करेंगे और इस तरह कीटनाशकों का प्रयोग बंद हो सकेगा। (घ) विदेशों में अहिंसक उत्पाद विक्रय केन्द्र बॉडी शाप खोले गये हैं। इस तरह के केन्द्र हमें अपने देश में नगर नगर, डगर डगर खोलने चाहिये। (ङ) अहिंसा शोध एवं प्रमाणन हेतु अहिंसक प्रयोगशालायें स्थापित होनी चाहिये।

(ख) अंत में - अहिंसा की विविध क्षेत्रों में वैज्ञानिक रूप से उपयोगिता, आवश्यकता को ध्यान में रखते हुये यह तथ्य स्पष्ट रूप से रेखांकित किया जा सकता है कि आज समग्र विश्व में विभिन्न वैज्ञानिक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अहिंसा को प्रोत्साहित कर रहे हैं और कर सकते हैं। परन्तु इस बात का अहसास स्वयं उन्हें भी नहीं है कि वे अहिंसा का कितना पुनीत, धार्मिक कार्य कर रहे हैं।

कितना अच्छा हो कि अहिंसा की प्रतिमूर्ति जैनधर्म की कोई प्रतिनिधि संस्था अहिंसा के क्षेत्र में चल रहे विभिन्न वैज्ञानिक कार्यों पर नजर रखकर उनको संरक्षण, समन्वय तथा दिशा निर्देशन दे तथा इन अहिंसक वीर वैज्ञानिकों के अनुसार विभिन्न अहिंसक कार्य योजनायें, विकल्प, संसाधन बनाये। अगर हम इस दिशा में कुछ भी कार्य कर सकें तो अहिंसा को शक्तिशाली बना सकेंगे जिससे कि खुशी, संतुलित संसार का सृजन हो सकेगा।

आभार - धर्म और विज्ञान के समन्वय के लिये लिखे गये प्रत्येक लेख के लिये मैं आचार्य कनकनन्दी एवं डॉ. अनुपम जैन, सचिव - कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ का आजीवन आभारी हूँ।

आधार ग्रंथ -

1. श्रीमद् अमृतचन्द्र सूरि, पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, पृ. 1 - 48, धर्मदर्शन विज्ञान शोध संस्थान, बड़ौत (उ.प्र.)
2. जिनेन्द्र वर्णी, समण सुत्तं, पृ. 1 - 276, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी (उ.प्र.)
3. Biology (XII) Part II, 1995, N.C.E.R.T., New Delhi P. 763 - 1081
4. Biology (XI) Part II, 1995, N.C.E.R.T. New Delhi
5. मांसाहार - सौ तथ्य - डॉ. नेमीचन्द जैन, 65 पत्रकार कालोनी, कनाडिया रोड, इन्दौर।
6. आविष्कार - एन.आर.डी.सी. 20 - 22 जमरूदपुर कम्युनिटी सेंटर, कैलाश कालोनी एक्सटेंशन, नई दिल्ली।
7. Invention Intelligence - एन.आर.डी.सी. 20 - 22 जमरूदपुर कम्युनिटी सेंटर, कैलाश कालोनी एक्सटेंशन, नई दिल्ली।
8. विज्ञान प्रगति, सी.एस.आई.आर., डॉ. के. एस. कृष्णन मार्ग, नई दिल्ली।
9. सम्यक विकास, अहमदाबाद - 380 009
10. वैज्ञानिक - भाभा परमाणु अनुसंधान केन्द्र, ट्राम्बे, मुम्बई - 400 085

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ स्थल :

1. विज्ञान प्रगति, फरवरी 2001, पृ. 48.
2. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, पृ. 111.
3. वही, पृष्ठ 125.
4. वही, पृष्ठ 127.
5. वही, पृष्ठ 128.
6. वही, पृष्ठ 130.
7. वही, पृष्ठ 131.
8. वही, पृष्ठ 132.
9. वही, पृष्ठ 134.
10. वही, पृष्ठ 135.
11. वही, पृष्ठ 137.
12. वही, पृष्ठ 133.
13. वही, पृष्ठ 138.
14. वही, पृष्ठ 139.
15. वही, पृष्ठ 148.
16. वही, पृष्ठ 149.
17. समण सुत्तम्, पृ. 47.
18. वही, पृ. 47.
19. वही, पृ. 49.
20. वही, पृ. 51.
21. वैज्ञानिक, जन. - मार्च 91, पृ. 55.
22. आविष्कार, अगस्त 2000, पृ. 371.
23. वैज्ञानिक, जन. - मार्च 91, पृ. 55.
24. विज्ञान प्रगति, जनवरी 2001, पृ. 38.
25. विज्ञान प्रगति, फरवरी 2001, पृ. 12.
26. Invention Intelligence, Feb. 95, p. 73.
27. आविष्कार, जून - 2000, पृ. 251.
28. मांसाहार - सौ तथ्य,पृ. 19.
29. आविष्कार, अक्टूबर 2000, पृ. 478 - 79.
30. विज्ञान प्रगति, अक्टूबर 99, पृ. 47.
31. आविष्कार, जुलाई 2000, पृ. 322.
32. विज्ञान प्रगति, अक्टूबर 99, पृ. 13.
33. विज्ञान प्रगति, अक्टूबर 99, पृ. 47.
34. आविष्कार, नवम्बर 99, पृ. 514.
35. Biology XII, Part II, p. 963.
36. सम्यक् विकास, श्री सूरजमल जैन, जुलाई दिसम्बर 2000, पृ. 32.
37. विज्ञान प्रगति, फरवरी 2000, पृ. 27.
38. Biology XII, Part II, p. 317.
39. विज्ञान प्रगति, जुलाई 2000, पृ. 55, 52.

परिशिष्ट

I

स्थावर (एकेन्द्रिय जीव) एवं त्रस (दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय जीव)
जीव जगत के लीनियस वर्गीकरण के पादप जगत एवं जन्तु जगत के समतुल्य

II

खाद्य श्रृंखला का प्रारूप

उत्पादक (पेड़ पौधे) → **प्राथमिक उपभोक्ता (शाकाहारी जीव)** → **द्वितीय उपभोक्ता (माँसाहारी जीव)**

III

समुद्री खाद्य श्रृंखला में ऊर्जा का पिरामिड

बड़ी मछली
126 KJ/m^2/yr.

कीट डिम्भक 1840 KJ/m^2/yr. | **छोटी मछलियाँ 1260 KJ/m^2/yr.**

जन्तु प्लवक, कृमि 7980 KJ/m^2/yr.

पादक प्लवक 31080 KJ/m^2/yr.

प्राप्त - 26.02.2002

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष - 14, अंक - 4, 2002, 31 - 35

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

कीट हत्या : कारण, प्रभाव तथा बचाव

□ अजित जैन 'जलज' *

आज जबकि मनुष्य हिसा के कुचक्र में फँसकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहा है तब हिंसक मनोवृत्ति से निवृत्ति के उपायों पर चिन्तन मनन की महती आवश्यकता महसूस होती है। वैसे तो पूरा पर्यावरण विज्ञान जैन धर्म की सूक्ष्मतम अहिंसा का समर्थक है फिर भी धर्म और विज्ञान के अन्तर्संबंधों पर समुचित अनुसंधान अभी तक नहीं हो सका है।

जैनधर्म में अहिंसा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है परन्तु यह दुखद तथ्य है कि वर्तमान में अहिंसा को सर्व स्वीकार्य बनाने में अहिंसक अनुयायियों का योगदान अत्यल्प है। सूक्ष्मतम अहिंसा का नित प्रति ध्यान रखने वाले भी जाने - अनजाने बड़े बड़े जीवों की हत्या के लिये उत्तरदायी हो रहे हैं।

कीडों की हत्या एक ऐसा ही विषय है जिससे जैन समाज का एक बहुत बड़ा भाग जुड़ा हुआ है। प्रस्तुत आलेख में कीट हत्या निरोध के लक्ष्य से वैज्ञानिक तथा धार्मिक संस्तुतियाँ दी गयी हैं जिनके शोध एवं संवर्द्धन से अहिंसा महिमा मंडित हो सकती है।

कीट हत्या के कारण :-

प्रकृति में कीड़ों का अपना विशिष्ट महत्व है और प्रकृति में छेड़छाड़ करने से कई कीड़े हमारे लिये हानिकारक सिद्ध हुए हैं जिससे उनको मारने के लिये नित नूतन कीटनाशकों के आविष्कार हुए हैं।

(अ) वैज्ञानिक कारण -

1. बहुत से पेड़ पौधों के लिये कई कीड़े बहुत घातक सिद्ध हुए हैं अतः फसलों की सुरक्षा तथा अधिक उपज पाने के लिये कीड़ों को मारा जाता है।

2. कीटनाशकों के बढ़ते दुष्प्रभावों को देखते हुए आनुवांशिक अभियांत्रिकी से ऐसे बीज विकसित किये जा रहे हैं जिनसे कीड़ों को नष्ट किया जा सकता है। बी. टी. कॉटन एक ऐसा ही नया कपास का बीज है जिसमें एक घातक जीवाणु का जीन डाल दिया गया है जिससे इसके पौधों में ऐसा जहर पैदा होता है जिन्हें खाकर कीड़े मर जाते हैं।[1]

3. मच्छर, मक्खी, तिलचट्टा, जूँ आदि कीड़े मनुष्यों और पशुओं के लिये दुखदायी रहे हैं अतः इन्हें खत्म करने के लिये रसायनों का उपयोग बढ़ता ही जा रहा है।

(अ) धार्मिक कारण -

1. अब अधिकांश जैनों का मुख्य लक्ष्य अधिकाधिक अर्थ संचय हो गया है जिसमें साध्य साधन शुद्धि, जीवदया तथा करुणा का ध्यान विस्मृत हो गया है फलस्वरूप अर्थोपार्जन के लिये जैन व्यापारी भी कीटनाशकों के व्यापार में जुड़ गये हैं।

2. जिस प्रकार से पर्यावरण वैज्ञानिकों की सलाह को अनसुना करके वृहद् वैज्ञानिक वर्ग विज्ञान का दुरुपयोग कर नित नूतन जहरीले रसायनों द्वारा कीड़ों को खत्म करने के नाम पर हवा, पानी में जहर फैला रहे हैं, उसी तरह सच्चे अहिंसकों को दर किनार कर जैन समाज का बहुसंख्यक वर्ग कीट हत्या, पशु हत्या आदि पर एकदम मौन बैठा हुआ

* अध्यापक, वीर मार्ग, ककरवाहा - 472 010 जिला टीकमगढ़ (म.प्र.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है जिससे सुबह शाम के पूजन पाठ के बीच में ना जाने कितने निर्दोष प्राणियों का कत्ल नि:संकोच हो रहा है।

3. प्रतिक्रियावादी, ऐकान्तिक, हिंसात्मक मनोवृत्ति प्रत्येक विकार के लिये जिम्मेदार होती है। अपनी सुविधा के लिये दूसरे पशु-पक्षियों, कीड़ों को मारने का काम सदा से होता रहा है। जीव हत्या को धर्म, विज्ञान तथा मनुष्य हित के नाम पर सही सिद्ध करने का प्रयास सदियों से हो रहा है और आज हिंसा के कारण ही फैली हिंसा की आग में घिरा मनुष्य यह नहीं सोच पा रहा है कि क्रूरता, आतंकवाद का मूलभूत कारण कत्लखानों, कीटनाशकों इत्यादि के द्वारा होने वाला प्राकृतिक असंतुलन है। यह अनभिज्ञता ही अन्य मूक प्राणियों तथा कीड़ों के कत्ल का कारण है।

कीट हत्या के हानिकारक प्रभाव :-

(अ) वैज्ञानिक प्रभाव -

1. पेड़ पौधों की ऐसी बहुत सी प्रजातियाँ हैं जो किसी ना किसी रूप में कीड़ों की प्रजातियों से जुड़ी हुई हैं। एक विशिष्ट पौधे के परागण (फूल से फल तथा बीज बनाने का महत्वपूर्ण चरण) में विशिष्ट कीट संलग्न रहता है। अत: एक विशेष कीट प्रजाति की समाप्ति के साथ ही उस पौधे की प्रजाति भी सदा के लिये समाप्त हो जाती है।[2]

2. कीट वर्ग जीवन के विकास का एक महत्वपूर्ण सोपान है और वैज्ञानिकों के अनुसार इसी सोपान से गुजरकर ही विभिन्न विकसित जातियों, पशुओं और मनुष्यों का विकास हुआ है। इसके अतिरिक्त जैव विविधता, प्राकृतिक संतुलन के लिये प्रत्येक जीव प्रजाति का अपना अलग महत्व होता है। अतएव कीट हत्या वैज्ञानिकों के विवेचन के लिये तो नुकसान देय ही हो जाती है, हर जीव तथा मनुष्य के लिये भी अन्तत: हानिकर होती है।[3]

3. कीटनाशक बहुत जहरीले रसायन होते हैं तथा इनसे बहुत से भयानक रोग फैल रहे हैं। वायु, जल, तथा मृदा को प्रदूषित कर रहे हैं :-

(क) डी.डी.टी. की थोड़ी सी मात्रा ही यकृत के बढ़ने का कारण होती है तथा मस्तिष्कीय उत्तेजना उत्पन्न करती है।[4]

(ख) ऑरगेनो फास्फोरस यौगिक - त्वचा, श्वसन तंत्र व पाचन तंत्र द्वारा बहुत तेजी से अवशोषित होते हैं जिससे एंजाइम तंत्र प्रभावित होता है। तंत्रिका तंत्र में एसीटाइल कोलीन संग्रहीत होने से मानसिक तनाव एवं अवसाद हो जाता है जिससे मनुष्य की मृत्यु हो जाती है।[5]

(ग) विश्व में प्रतिवर्ष 20 लाख व्यक्ति कीटनाशी विषाक्तता से ग्रसित हो जाते हैं जिनमें से लगभग 20 हजार की मृत्यु हो जाती है।[6]

4. कीटनाशक - फसलों, फलों आदि में जमा होते रहते हैं। जैविक सांद्रता की इस प्रक्रिया के द्वारा मछली जैसे जीवों में तो इन जहरीले रसायनों की मात्रा लाखों गुना हो जाती है। इनके दुष्प्रभावों को देखते हुए ही विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 129 रसायनों पर प्रतिबंध लगा दिया है।

5. डी.डी.टी. जैसे हानिकारक कीटनाशक मच्छरों का कभी सफाया नहीं कर सके क्योंकि प्राकृतिक चयन के द्वारा बड़ी जल्दी ही मच्छर इन रसायनों के प्रतिरोधी हो गये। यही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बात प्रत्येक कीटनाशक तथा कीड़ों के लिये लागू होती है।

6. बी.टी. कॉटन के हानिकारक जीव अन्य पौधों में पहुँचकर जीव जन्तुओं को हानि पहुँचायेंगे तथा कुछ ही वर्षों में कीड़े इन बीजों तथा पौधों के लिये प्रतिरोधी हो जायेंगे जिससे यह तकनीक भी व्यर्थ हो जायेगी।[7]

(ब) धार्मिक प्रभाव -

1. कीटनाशकों के निर्माण, विक्रय, उपयोग में संलग्न जैन धर्मानुयायी धार्मिक, सामाजिक मंचों पर लगातार प्रतिष्ठा पा रहे हैं। गर्भपात, कत्लखानों, मद्यपान, धूम्रपान के संवर्धकों, संरक्षकों की तरह कीट हत्या के लिये उत्तरदायी जैनियों के बढ़ते मान सम्मान से ऐसी विडम्बना बनी है कि बुद्धिजीवियों के मन में जैनियों के क्रियाकाण्डी तथा पाखण्डी होने की धारणा विकसित हो रही है।

2. चींटी को भी न मारने वाले के रूप में पहचाने जाने वाले जैन भी जब फसल में कीटनाशी, मच्छर मारकों, कॉकरोंच नाशियों का उपयोग करते एवं कराते पाये जाते हैं तो हमारा यह आचरण देश, समाज एवं धर्म के लिये गलत संदेश देता है।

3. कीट हत्या - मारक मनोवृत्ति का निर्माण कर असहिष्णुता, अलगाव द्वन्द और हिंसा की आत्मघाती राहें बना रही हैं।

कीट हत्या से बचने के उपाय :-

कीड़ों के कत्ल के द्वारा हम कीड़ों के कष्टों से कभी भी छुटकारा नहीं पा सकते हैं बल्कि ऐसे बहुत से वैज्ञानिक उपाय हैं जिनके उपयोग से कीट हत्या से आसानी से बचा जा सकता है -

1. एक बड़े क्षेत्र में एक ही फसल बार बार लेने से उसके ऊपर निर्भर रहने वाले हानिकारक कीटों की संख्या लगातार बढ़ती जाती है अतः इनकी संख्या को रोकने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि एक से अधिक प्रकार की फसलों को पास-पास बोया जाये तथा उस क्षेत्र में नियमित अन्तराल से फसलों को परिवर्तित किया जाये। फसल चक्रण के इस उपाय से कीट नियंत्रण के साथ ही फसलों की पैदावार भी अधिक होगी।

2. एक से वृक्षों को भी एक साथ नहीं लगाया जाये। कान्हा के साल वन में साल वृक्षों के एक साथ लगे होने के कारण वहाँ पर एक महामारी से लाखों पेड़ नष्ट हो चुके हैं[8] अतः फल तथा इमारती वृक्षों की विभिन्न प्रजातियों को मिला जुलाकर बोया जाये।

3. प्रकृति हमेशा प्राकृतिक रूप से अधिक सक्षम प्रतिरोधी प्रजातियाँ पैदा करती ही रहती है अतः ऐसी प्रजातियों के बीजों का ही अधिकाधिक उपयोग किया जाये।

4. प्रयोगशालाओं में संकरण के द्वारा या फिर जैव प्रौद्योगिकी के द्वारा भी ऐसे बीजों का विकास किया जा रहा है जो कि प्राकृतिक रूप से अधिक सक्षम एवं कीट प्रतिरोधी हों परन्तु ऐसे पौधे कीड़ों को मारने वाले नहीं बल्कि कीड़ों से बच जाने वाले होना चाहिये।

5. बहुत पहले से हम नीम जैसे वनस्पति उत्पादों का प्रयोग करते रहे हैं जिनके द्वारा कीड़ों से बचाव होता रहा है। आज भी हम ऐसे कीट विरोधी निरापद उत्पादों का अनुसंधान कर सकते हैं जो कि अन्य जीव जन्तुओं तथा कीड़ों से बचाव के लिये सहायक हो सकते हैं।

नींबू घास, पिपरमेंट, तुलसी वच, काली मिर्च, पोंगामिया आदि पौधों से प्राप्त रसायनों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में कीट भगाने के गुण विभिन्न शोधों द्वारा प्रमाणित हो चुके हैं।[9]

6. संग्रहीत खाद्यानों में से कीड़ों को दूर भगाने की वैज्ञानिक विधियाँ हैं जिनके प्रयोग से हम अपना लक्ष्य अहिंसक रीति से पा सकते हैं।[10]

7. प्रभावित पौधों से कीड़ों को पकड़ने की ऐसी वैज्ञानिक विधियाँ हैं जिनके द्वारा बिना कीड़ों को मारे उन्हें पकड़ा जा सकता है। इन विधियों के द्वारा कीड़ों को पकड़ कर अलग किया जा सकता है।[11]

8. किसी भी जीव की जनसंख्या के नियंत्रण के लिये बंध्याकरण, एक क्रूरता रहित उपाय है। कीट बंध्याकरण के लिये भी वर्षों पूर्व एक वैज्ञानिक कार्यक्रम शुरू हुआ था उसे सफलीभूत करने पर कीड़ों का हानिरहित नियंत्रण संभव है।[12]

9. मच्छरों, काकरोंचों, मक्खी आदि गंदगी की पैदाइश है। अगर घर, मुहल्ले में समुचित सफाई रहती है तो इनका उत्पात नहीं होगा। इसके अलावा मच्छरदानी के प्रयोग से भी मच्छरों से सरलतापूर्वक बचा जा सकता है।

10. कीट हत्या के क्रूर कृत्य को जानकर अगर अहिंसक अनुयायी कीटनाशकों का बहिष्कार कर दें तो भी कीट हत्या से बचाव संभव है।

इनके अलावा कीड़ों से बचाव के अन्य उपायों पर संगठित शोधकार्य करने से सामूहिक कीट हत्या तथा कीटनाशकों, दोनों कलंकों से छुटकारा मिल सकता है।

इस प्रकार कीट हत्या के कारणों, प्रभावों तथा बचाव के विस्तृत विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि अगर इस दिशा में अहिंसक शक्तियाँ विज्ञान के साथ मिलकर शोधपरक कार्य कर सकें तो स्वच्छ पर्यावरण, अहिंसक समृद्धि, प्राकृतिक संतुलन तथा जैविक सहिष्णुता सब कुछ पाया जा सकता है।

आधार ग्रन्थ एवं पत्रिकाएँ

1. Biology (XI & XII) 1995, N.C.E.R.T., New Delhi.
2. Invention Intelligence, N.R.D.C., New Delhi.
3. आविष्कार मासिक, N.R.D.C., New Delhi.
4. विज्ञान प्रगति, C.S.I.R., New Delhi.
5. WWF Newsletter, New Delhi.

संदर्भ स्थल -

1. Invention Intelligence, Jan-Feb. 2001, p. 6, The Cotton Corporation has been alfered by biotechnology to incorporate Bt gene from the bacterium bacillus thuringiensis (Bt.)

   Boll worms and other lepidopteran insects when feed on this toxic protein of cotton plant meet their end and pest population remains checked. Adoption for Bt toxin protien in pests can also evolve and if super resistant strain of pestsdevelops then worse condition in agriculture will be repeated.

2. विज्ञान प्रगति, अक्टूबर - 99, पृ. 13, जिस क्षेत्र में कीटनाशकों का प्रयोग अधिक होता है वहाँ परागण कराने वाले कीड़ों की कमी हो जाती है और फसल की उपज पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

3. विज्ञान प्रगति, अक्टू. 99, पृ. 47, भारत में कीट पतंगों की 131 प्रजातियाँ संकटापन्न स्थिति में जी रही हैं।

4. विज्ञान प्रगति, जून 99.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

5. वही.

6. आविष्कार, नवम्बर 99, पृ. 514.

7. Invention Intelligence, Jan-Feb. 2002, p. 8, Adaptation for Bt toxin proteins in pests can also evolve and if super resistant strain of pests develops, then worse condition in agriculture will be reported.

8. WWF Newsletter, June 1998, p. 11.

9. विज्ञान प्रगति, जून 99.

10. Investigation Intelligence, July-Aug. 2001, p. 181, New technique to repell insects from stored food grains.

11. Investigation Intelligence, July-Aug. 2001, p. 184, The trap was used without the accessories, there was hardly 0.8 to 2.1% survival of the insects while it was 100% survival when the accessories were fitted.

12. विज्ञान प्रगति, सित. - अक्टू. 1980, पृ. 317, बंध्याकरण : कीट नियंत्रण की अचूक विधि।

संशोधनोपरांत प्राप्त - 20.06.2002

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार

श्री दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम ट्रस्ट, इन्दौर द्वारा जैन साहित्य के सृजन, अध्ययन, अनुसंधान को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर के अन्तर्गत रुपये 25,000=00 का कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार प्रतिवर्ष देने का निर्णय 1992 में लिया गया था। इसके अन्तर्गत नगद राशि के अतिरिक्त लेखक को प्रशस्ति पत्र, स्मृति चिह्न, शाल, श्रीफल भेंट कर सम्मानित किया जाता है।

1993 से 1999 के मध्य संहितासूरि पं. नाथूलाल जैन शास्त्री (इन्दौर), प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन (जबलपुर), प्रो. भागचन्द्र 'भास्कर' (नागपुर), डॉ. उदयचन्द्र जैन (उदयपुर), आचार्य गोपीलाल 'अमर' (नई दिल्ली), प्रो. राधाचरण गुप्त (झांसी) एवं डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन (इन्दौर) को कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है।

वर्ष 2000 एवं 2001 हेतु प्राप्त प्रविष्टियों का मूल्यांकन कार्य प्रगति पर है। वर्ष 2002 हेतु जैन विद्याओं के अध्ययन से सम्बद्ध किसी भी विधा पर लिखी हिन्दी/अंग्रेजी, मौलिक, प्रकाशित/अप्रकाशित कृति पर प्रस्ताव 31 जनवरी 03 तक सादर आमंत्रित हैं। निर्धारित प्रस्ताव पत्र एवं नियमावली कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ कार्यालय में उपलब्ध है।

देवकुमारसिंह कासलीवाल — अध्यक्ष

30.11.2002

डॉ. अनुपम जैन — मानद सचिव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर का प्रकल्प

सन्दर्भ ग्रन्थालय

आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि महोत्सव वर्ष के सन्दर्भ में 1987 में स्थापित कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ ने एक महत्वपूर्ण प्रकल्प के रूप में भारतीय विद्याओं, विशेषत: जैन विद्याओं, के अध्येताओं की सुविधा हेतु देश के मध्य में अवस्थित इन्दौर नगर में एक सर्वांगपूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थालय की स्थापना का निश्चय किया।

हमारी योजना है कि आधुनिक रीति से दाशमिक पद्धति से वर्गीकृत किये गये इस पुस्तकालय में जैन विद्या के किसी भी क्षेत्र में कार्य करने वाले अध्येताओं को सभी सम्बद्ध ग्रन्थ / शोध पत्र एक ही स्थल पर उपलब्ध हो जायें। हम यहाँ जैन विद्याओं से सम्बद्ध विभिन्न विषयों पर होने वाले शोध के सन्दर्भ में समस्त सूचनाएँ अद्यतन उपलब्ध कराना चाहते हैं। इससे जैन विद्याओं के शोध में रूचि रखने वालों को प्रथम चरण में ही हतोत्साहित होने एवं पुनरावृत्ति को रोका जा सकेगा।

केवल इतना ही नहीं, हमारी योजना दुर्लभ पांडुलिपियों की खोज, मूल अथवा उसकी छाया प्रतियों / माइक्रो फिल्मों के संकलन की भी है। इन विचारों को मूर्तरूप देने हेतु दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम, 584, महात्मा गांधी मार्ग, इन्दौर पर नवीन पुस्तकालय भवन का निर्माण किया गया है। 30 नवम्बर 2002 तक पुस्तकालय में 9750 महत्वपूर्ण ग्रन्थ एवं 1167 पांडुलिपियों का संकलन हो चुका है। जिसमें अनेक दुर्लभ ग्रन्थों की फोटो प्रतियाँ भी सम्मिलित हैं। अब उपलब्ध पुस्तकों की समस्त जानकारी कम्प्यूटर पर भी उपलब्ध है। फलत: किसी भी पुस्तक को क्षण मात्र में ही प्राप्त किया जा सकता है। हमारे पुस्तकालय में लगभग 350 पत्र - पत्रिकाएँ भी नियमित रूप से आती हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

आपसे अनुरोध है कि —

संस्थाओं से : 1. अपनी संस्था के प्रकाशनों की 1 - 1 प्रति पुस्तकालय को प्रेषित करें।

लेखकों से : 2. अपनी कृतियों (पुस्तकों / लेखों) की सूची प्रेषित करें, जिससे उनको पुस्तकालय में उपलब्ध किया जा सके।

3. जैन विद्या के क्षेत्र में होने वाली नवीनतम शोधों की सूचनाएँ प्रेषित करें।

दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम परिसर में ही अमर ग्रन्थालय के अन्तर्गत पुस्तक विक्रय केन्द्र की स्थापना की गई है। सन्दर्भ ग्रन्थालय में प्राप्त होने वाली कृतियों का प्रकाशकों के अनुरोध पर बिक्री केन्द्र पर बिक्री की जाने वाली पुस्तकों की नमूना प्रति के रूप में उपयोग किया जा सकेगा। आवश्यकतानुसार नमूना प्रति के आधार पर अधिक प्रतियों के आर्डर दिये जायेंगे।

प्रकाशित जैन साहित्य के सूचीकरण की परियोजना भी यहीं संचालित होने के कारण पाठकों को बहुत सी सूचनाएँ यहाँ सहज उपलब्ध हैं।

देवकुमारसिंह कासलीवाल
अध्यक्ष

डॉ. अनुपम जैन
मानद सचिव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष - 14, अंक - 4, 2002, 37 - 40

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

अहिंसा इतिहास के आलोक में

□ रामजीत जैन*

अपने शत्रु के प्राण हंता के प्रति भी प्रेम करना एक महान अहिंसक वीर का ही कर्त्तव्य हो सकता है - वही उसे माफ कर सकता है। यह है अहिंसा की महानता, अहिंसा का शौर्य - जो मानव को अमर बना देता है। अतः जो अमर जीवन चाहते हैं वे अहिंसक बनें। अहिंसा में अमरता है और हिंसा में मरण। अहिंसा जयति सर्वथा। यह निश्चित तथ्य है।[1]

प्रागैतिहासिक काल के इतिवृत्त को जानने के लिये दो साधन हैं - 1. धर्म शास्त्र और 2. पुरातत्व, और दोनों से ही यह बात सिद्ध होती है कि आदिकाल का मानव अहिंसक था। धर्मशास्त्रों के अनुसार तो मनुष्य ही नहीं पशु भी अहिंसक था। मानव और पशु साथ-साथ रहते थे। जैनियों के महापुराण, बौद्धों के सुत्तनिपात और ब्राह्मणों के रामायण से यही पता चलता है एवं इंजील और कुरान में भी आदम और हव्वा का वर्णन यही बताता है। चीन के कनफ्यूशस ने भी यही कहा है। धर्मशास्त्रों का यह मत स्पष्ट है कि आदिमानव अहिंसक था, निरामिष भोजी था। बाद में अहंकार के कारण उसका पतन हुआ, और वह हिंसक बना।

पुरातत्व की साक्षी -

पुरातत्व से प्राप्त सामग्री भी आदिकालीन मानव को अहिंसक सिद्ध करती है। मोहनजोदड़ों की खुदाई में सर्वप्राचीन स्तर पर केवल अन्न और फसल काटने के हंसिए मिले। उससे भी प्राचीन काल के चिन्ह मेसोपोटोमियाँ के क्रेटे (Crete) नामक स्थान की खुदाई में मिले हैं, उनसे भी आदिकाल में मानव की अहिंसक वृत्ति का समर्थन होता है। वहाँ से प्राप्त प्राचीन स्तर पर कोई भी घातक अस्त्र नहीं मिला और ना ही नगर की सुरक्षा हेतु प्राचीर बनाने के चिन्ह मिले हैं। ऐसे चिन्ह परिवर्ती काल में मिले हैं। इसलिए पुरातत्वविद् इलियट स्मिथ (Eliat Smith) ने निर्धारित किया है कि - "जब तक मानव ने खेती और सिचाई करना नहीं सीखा था तब तक विश्व में सुख और शान्ति का स्वर्ण युग था।"[2] उस अहिंसक युग में मानव भय और कायरता को जानता ही न था।

कैलाश के उत्तुंग शैल से अहिंसा का निनाद सारे लोक में फैला और उसने एक दीर्घकाल तक मानव हृदयों पर अपना प्रभाव बनाये रखा। किन्तु भगवान रामचन्द्र के समय से जब बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ का अवतरण होने वाला था, तब भारत में कुछ असुर लोग आ घुसे। उनकी पाशविक वृत्ति थी, जादू टोने के धनी थे और सुरा-सुन्दरी के सेवक। उन्होंने भारतीय ब्राह्मणों में से कुछ को बहका लिया - वेदों की ऋचाओं के मूल अर्थ को बदलकर उन्होंने पशु बलि प्रथा को जन्म दिया। तीर्थंकरों ने इसका घोर विरोध किया। भगवान राम ने अहिंसा को बढ़ाया। लेकिन उस समय से भय और आतंक का बाहुल्य हो गया। मनुष्य कायर बना। अपने साथियों से लड़ने झगड़ने लगा। भयग्रस्त हुआ। कायर मनुष्य तो अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। वह तो अपने शरीर के मोह और स्वार्थ में अंधा हो रहा होता है। इसके विपरीत अहिंसक समरसी वीर शेरों से खेलते हुए भी नहीं डरता। दुष्यन्त-शकुन्तला का पुत्र शेर के बच्चों के साथ खेलता था। यह था प्रागैतिहासिक काल में अहिंसा का प्रभाव। तीर्थंकरों ने अहिंसा का प्रचार किया,

* एडवोकेट, टकसाल गली, दानाओली, ग्वालियर - 1 (म.प्र.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पशु यज्ञों का विरोध किया। भगवान राम ने अहिंसा को बढ़ाया।

जब शौरीपुर में बाइसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि का जन्म हुआ, जो नारायण कृष्ण के चचेरे भाई थे, उस समय भारत में आमिषभोजियों की संख्या बढ़ रही थी। गोधन पर संकट आया हुआ था। तब अरिष्टनेमि ने शाकाहार अथवा फलाहार का प्रचार करके अहिंसक भाव को जनता के हृदय में जगाया। नारायण कृष्ण ने गोधन बढ़ाने के लिये लोगों को प्रोत्साहन दिया। इसका प्रसार गुजरात में द्वारिका तक हो गया। भगवान नेमि की अहिंसा का प्रभाव गुजरात में देखा जा सकता है। यहां की साधारण जनता निरामिष आहारी है, बड़ी दयालु है। वहां की अहिंसा के परिणाम स्वरूप ही भारत को महात्मा गांधी जैसा महात्मा मिला, जिनकी माता जैनी और पिता वैष्णवी थे। जैन कवि श्रीमद् रायचन्द से जिन्होंने अहिंसा का पाठ पढ़ा और अहिंसा की शक्ति को दुनिया में चमका दिया।

ऐतिहासिक काल के आदि में -

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय से भारत में ऐतिहासिक काल की गणना की जाती है। यद्यपि मोहनजोदडों और हडप्पादि का पुरातत्व भारतीय इतिहास की रूपरेखा को ईस्वी पूर्व 4000 वर्ष तक ले जाता है। पार्श्वनाथ के समय में वैदिक सम्प्रदाय में पुत्रेषणा, लोकेषणा और वित्तेषणा के लिये हिंसामूलक यज्ञ किये गये तथा शरीर को केवल कष्ट देने को ही तप माना जाता था। पार्श्वनाथ ने हिंसा, अस्तेय, चोरी और परिग्रह का त्याग करना सिखाया। इसका उन्होंने भारतभर में प्रचार किया। इतने प्राचीनकाल में अहिंसा को इतना सुव्यवस्थित रूप देने का यह सर्वप्रथम उदाहरण है। ईस्वी सन् से आठ शताब्दी पूर्व जब भगवान पार्श्वनाथ ने उपदेश दिया था वह काल अत्यन्त प्राचीन है और वह उपनिषद काल, से भी प्राचीन ठहरता है।[3]

महाभारत के युद्ध के परिणाम स्वरूप भारत अनैक्य, और अहंकार की हिंसक भट्टी में जल रहा था। बलिवेदियाँ निरपराध पशुओं के रक्त से रंजित थी, इतनी नृशंसता ही नहीं, बल्कि मानवों में ऊँच-नीच का ऐसा आतंक छाया हुआ था कि शूद्र और स्त्री के वैयक्तिक जीवन का कुछ मूल्य ही नहीं था। ऐसे हिंसक समय में तीर्थंकर महावीर ने जन्म लिया। उन्होंने अहिंसा धर्म का विज्ञान सिद्ध पाठ मानवों को पढ़ाया - ''जिओ और जीने दो, सबसे प्रेम करो और सेवा धर्म का पालन करो।'' उसी समय में भगवान गौतम बुद्ध ने अहिंसा का पक्ष लिया। परिणामतः भारत में एकता का भाव जागा। सभी छोटे-छोटे राज्य मगध के शासन के अंतर्गत आ गए और संगठित हुए। अनेक राज्यों के शासकगण भगवान महावीर के अनन्य भक्त हो गये। उन्होंने अहिंसा दर्शन को अपने जीवन में उतारा।

भगवान महावीर के बाद -

ई. पूर्व 527 में भगवान महावीर का निर्वाण पावापुर (बिहार) में हो गया। उनके अनुयायी आचार्यों, मुनियों, आर्यिकाओं और श्रावकों ने सारे भारत में एवं भारत के बाहर अफगानिस्तान, अरब, ईरान एवं यूनान तक अहिंसा संदेश फैलाया। जैनाचार्य जानते थे कि मानव जीवन में शासन सत्ता का विशेष महत्व है, अतः उन्होंने सदा ही यह प्रयत्न किया कि वे शासन को अहिंसा तत्व से प्रभावित करें। तदनुसार जैनाचार्यों के प्रभाव में नंद और मौर्य वंश के अनेक राजा जैसे नन्दिवर्धन, महापद्म, चन्द्रगुप्त मौर्य रहे। चन्द्रगुप्त और महापद्म तो स्वयं जैन मुनि होकर लोक कल्याण में लगे थे। 'मुद्राराक्षस नाटक' से स्पष्ट है कि उस समय जैन मुनियों का जन जीवन में बड़ा प्रभाव था। वे साधारण कुटियों से लेकर राजप्रासाद तक अहिंसा का उपदेश देते हुए विचरते थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिकन्दर महान तो अपने साथ मुनि कल्याण को अपने देश यूनान ले गया जिनको यूनानी जिनोसूफिस्ट कहते हैं। सिकन्दर ने अपनी दानवीय दिग्विजय की नृशंसता पर पश्चाताप् किया और मरते समय कफन से बाहर दोनों हाथ बाहर रखने का आदेश देकर दुनियाँ को बता गया कि हिंसा से दुनियाँ को हड़पने की दुर्नीति दानवता है - मानव को उससे कुछ हाथ नहीं आता। अत: सच्चा शौर्य तो अहिंसक वीर लोक बनने में है।

सम्राट अशोक इसलिये महान नहीं हुए कि उन्होंने कलिङ्ग का दानवी युद्ध जीता, बल्कि उन्होंने अहिंसा का संदेश सारे भारत में और भारत के बाहर पड़ोसी देशों में भेजकर जग के हृदय को जीता, इस कारण अशोक महान बने। ईरानी बादशाह दारा ने भी असि के प्रचार के लिये शाही फरमानों को पत्थर पर अशोक और सम्प्रति की तरह लिखवाया। अहिंसा के कारण ही वे महान वीर जाते हैं। अहिंसा वीरता का अभेद्य दुर्ग है।

उपरान्त जब भारत की फूट को देखकर इंडोग्रीक विजेता भारत में मथुरा से आगे तक घुस आए थे तब भी भारत को उनके आतंक से मुक्त करने के लिए कलिङ्ग के सम्राट एल खारवेल आगे बढ़े थे। फल यह हुआ कि दमत्रयस (Demetrius) मथुरा छोड़कर भाग गया। यह सम्राट खारवेल परम अहिंसक जैन श्रावक था। अहिंसा का शौर्य इतिहास की स्वर्णगाथा है। इंडोग्रीक और कुषाण लोगों का प्राबल्य मथुरा में विशेष रहा जो जैन धर्म का केन्द्र था। जैनाचार्यों ने अनेक यवनों - ग्रीक, पार्थियन आदि को जैन धर्म में दीक्षित किया और असि का उपासक बनाया। उन्होंने अनेक मंदिर और मूर्तियाँ बनवाए थे, जो कंकाली टीला की खुदाई में मिले।

विदेशियों के साथ गंधी, माली, नट, गणिका आदि निम्न वर्ग के लोगों को भी जैनाचार्यों ने संघ में आदरणीय स्थान दिया था। उनके द्वारा प्रतिष्ठा कराई गई मूर्तियाँ भी मथुरा में मिली हैं। इस साक्षी से स्पष्ट है कि कुषाण काल में जैन धर्म जनता का जीता जागता धर्म था - उसके अनुयायी समाज के सभी वर्ग के लोग थे। जैन गुरुओं ने अहिंसा संस्कृति के रंग में सभी वर्ग के लोगों को सम्मिलित किया था जिससे समाज का नैतिक स्तर ऊँचा उठा था।

गुप्त काल -

गुप्त वंश के राजाओं ने यद्यपि पौराणिक वैदिक धर्म को प्रश्रय देकर उसे आगे बढ़ाया, तो भी जैन धर्म ने जन मन पर अधिकार जमाए रखा। गुप्त राजवंश में उसकी गति थी। प्रसिद्ध इतिहासकार हैवल का लिखना है कि - **''ई. की तीसरी शताब्दी तक प्राय: सभी राजकीय अथवा जनसाधारण के दान जैन और बौद्ध संस्थानों को दिये जाते थे। यद्यपि नवीन वैदिक धर्म का इस समय उत्कर्ष हुआ, फिर भी जनसाधारण में जैन और बौद्ध धर्म की प्रधानता अक्षुण्ण रही थी। जैन मंदिरों, मठों में उच्च कोटि की शिक्षा प्रदान करने का प्रबंध था। इन तीनों धर्मों के विद्वानों में दार्शनिक वाद भी हुआ करता था। संस्कृत भाषा का महतीय उत्कर्ष हुआ था।''** [4]

मुस्लिम काल -

अहिंसा धर्म भीरू नहीं बनाती, धर्म वीर बनाती है। गुप्तकाल और राजपूत काल में जैन और बौद्ध अहिंसा का स्थान पौराणिक हिन्दू धर्म ने ले लिया। राजपूतों का अहंकार इतना बढ गया कि वे आपस में लड़ने लगे। कदाचित जयचन्द देशद्रोह न करता तो वीरवर पृथ्वीराज मुसलमानों के हाथ न पड़ते। अभिमान के झूठे भाव ने भारतीयों को भीरू बना दिया और मुस्लिम शासन को जन्म दिया। जब सैय्यद सालारजंग अवध को जीतने के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिये गायों के झुन्ड को आगे रखकर बढ़ता हुआ श्रावस्ती (बहराइच) पहुँचा तो उस समय वहां जैन राजा सुहेलदेवराय शासनाधिकारी थे। उन्होंने अहिंसा का तात्विक रूप समझा। अत: उन्होंने गायों को तितर - बितर करके सालारजंग को मार भगाया।

बादशाह अकबर इसलिये महान माना गया कि उसने अहिंसक जीवन अपनाया। पशु - पक्षियों तक को अभयदान दिया था। अकबर से पहले सम्राट अमोघवर्ष, कुमार पाल और महाराजा राजसिंह ने भी अहिंसा ध्वज को ऊँचा किया था। परिणामत: तत्कालीन भारत लोक में सुख समृद्धि और शौर्य के लिये प्रसिद्ध रहा था।

राजपूतों का शौर्य जहां पारस्परिक स्पर्द्धा - हिंसा के कारण कुण्ठित रहा, वहाँ भी अहिंसा के कारण वह शौर्य सोने में सुगन्ध की उक्ति को भी चरितार्थ करता रहा। पन्ना धाय का त्याग इसी कोटि का था। यह निस्पृह, निर्मोह भाव ही महान है। पन्ना ने साहसपूर्वक शिशु राणा को बचाया और उस राणा शिशु को लेकर सरदार राजपूतों के द्वारों पर अलख जगाया, परन्तु किसी को आश्रय देने का साहस नहीं हुआ। आखिर पन्ना कमलमेर दुर्ग के शासक आशाशाह के पास पहुँचती है, जो जैन धर्मोपासक अहिंसक वीर था। उसने नि:शङ्क होकर शिशुराणा को दुर्ग में आश्रय दिया। इसे कहते हैं सच्चा, जो अहिंसा का जीता जागता प्रभाव था।

एक अहिंसक हृदय में ही निर्ममता और निर्मोह का वास हो सकता है। वही जीव रक्षा के लिये अपने प्राणों की आहुति दे सकता है।

भारत के सत्याग्रह युद्ध में अहिंसक सत्याग्रहियों ने छाती पर गोलियाँ खाई, परन्तु ऊँगली तक न उठाई? इस अहिंसक शौर्य ने भारत को मुक्त कराया। और वर्तमान में भी अहिंसा की अमोध शक्ति का प्रभाव विदेशों में फैल रहा है।

निष्कर्ष -

जब यह नितान्त सत्य है कि अहिंसा जीवन का मौलिक तत्व है - वह हमारा आत्मिक रूप है, तब हम उसे भुलाकर जीवन में सफल नहीं हो सकते। क्योंकि अहिंसा के शासन में मनुष्य अपने लिये नहीं जीता - अपने स्वार्थ को आगे रखकर वह जीवन में आगे नहीं बढ़ता। बल्कि जीओ और जीने दो के सिद्धान्त को मूर्तमान बनाकर एक विशाल समाज को जन्म देता है जिसमें सर्वत्र समता, सुख और शान्ति का साम्राज्य होता है। महावीरों का धर्म ही अहिंसा होता है - और वे सच्चे लोकजयी होते है - युगों युगों की जनता युगों युगों तक ही नहीं सर्वदा अहिंसक महावीरों के आगे नतमस्तक होती है।

सन्दर्भ

1. एक हंगेरियन कविता का हिन्दी रूपान्तर.
2. The Evolution of Man, p. 13.
3. डॉ. हरमन जैकोबी, परिशिष्ट पर्व, पृ. 6.
4. History of Aryan Rule in India, p. 147 - 156.

प्राप्त - 15.10.2000

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष - 14, अंक - 4, 2002, 41 - 43

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

जैन संस्कृति और पर्यावरण

■ डा. विनोद कुमार तिवारी *

इक्कीसवीं सदी के मानव के समक्ष अपनी दैनिक मूलभूत समस्याओं के अलावा जो सबसे भयंकर और अनिवार्य समस्या उठ खड़ी हुई है, वह है पर्यावरण संरक्षण की समस्या। प्रकृति की वस्तुओं के प्रति मानव समुदाय की उपेक्षा सैकड़ों वर्षों से अनवरत रूप से चलती आ रही थी और वर्तमान काल में अब इसकी विकरालता स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ने लगी है। विश्व के लोगों ने अपने तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति के लिए प्रकृति का भरपूर दोहन किया है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि आज सम्पूर्ण विश्व को प्रदूषण की विकराल समस्या से जूझना पड़ रहा है। पिछली शताब्दियों में हुए वैज्ञानिक, औद्योगिक क्रान्ति की होड़, भौतिक आनन्द, तेजी से बढ़ती आबादी, जंगलों की लगातार कटाई, खेतों में जरूरत से अधिक पैदावार बढ़ाने के प्रयत्न और निरीह प्राणियों की निर्मम हत्या ने प्राकृतिक वातावरण को छिन्न-भिन्न कर इसे दूषित बना दिया है, जिससे प्राकृतिक संतुलन डगमगाने लगा है। आज विकास के नाम पर भूमि, जल और वायु प्रदूषित किये जा रहे हैं तथा अन्तरिक्ष तक में प्रदूषण फैलाया जा रहा है। इस परिस्थिति में आज प्राणी जगत के संपूर्ण अस्तित्व पर सीधा संकट उपस्थित हो गया है।

यद्यपि बीसवीं सदी में पश्चिम के वैज्ञानिकों और विचारकों ने प्रकृति संरक्षण और पर्यावरण पर ध्यान दिया तथा इसके लिए कुछ उपाय भी बतलाऐं, पर पिछले कई दशकों में उपभोक्ता संस्कृति और भौतिकवादी विचारधारा का जिस तेजी से विकास हुआ है, उससे विश्व के प्राकृतिक संसाधनों का ह्रास होता गया और आज मानव उसके भयावह परिणामों के भुक्तभोगी हो रहे हैं। अब इससे बचने के उपाय विश्व के दूसरे देशों के पास नहीं हैं, पर यदि हम भारतीय संस्कृति का अध्ययन करें, तो जैन और बौद्ध साहित्य इस तरह की प्रेरणा देते हैं जिससे हम विश्व के समक्ष उत्पन्न इस त्रासदी का सामना करते हुए उससे बच सकें। अब सभी इस बात की गंभीरता को समझने लगे हैं कि पर्यावरण और प्रकृति की सुरक्षा के लिए धार्मिक एवं नैतिक विश्वासों तथा आस्थाओं पर गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए। जहां वैदिक धर्म में प्रकृति के अंगों, क्रमश: क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर की बात कहकर इसके प्रति आस्था उत्पन्न की गई है, वहीं बौद्ध धर्म में लोगों को प्रकृति के प्रति उदार रहने का संदेश दिया गया है। पर जैन धर्म एवं इसमें वर्णित जीवन शैली पर विचार करने से यह स्पष्ट पता चलता है कि इसने प्राकृतिक वस्तुओं के संरक्षण पर सबसे अधिक ध्यान दिया है तथा इसके लिए तथ्यपरक मार्गों के अनुसरण करने की बात भी विस्तार से बतलाई है।

जैन धर्म मूल रूप से पांच सिद्धांतों पर आधारित है - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य। इन्हीं मार्गों पर चलकर भौतिक तथा आध्यात्मिक रूप से प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा की जा सकती है। इसके अलावा जैन तीर्थंकरों एवं श्रमणों ने स्वयं एक ऐसा आदर्श जीवन प्रस्तुत किया है, जो उनके दया भाव एवं प्रकृति प्रेम को दर्शाता है। जैन धर्म में अहिंसा को सबसे अधिक महत्व देते हुए प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों की रक्षा करने का संदेश दिया गया है। इस मत में जीव के पांच प्रकार निर्धारित किये

* रीडर एवं अध्यक्ष, इतिहास विभाग, यू.आर. कॉलेज, रोसड़ा - 848 210 (समस्तीपुर) बिहार।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गये हैं - पृथ्वीकाय, अपकाय (जलकाय), तेउकाय (अग्नि या तेज), वायुकाय तथा वनस्पतिकाय। ये स्थावर जीव हैं, जबकि त्रस जीव के चार प्रकार बतलाये गए हैं - दीन्द्रिय (दो इन्द्रिय), त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय। उसी प्रकार जैन धर्म में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति में देवत्व की नहीं, बल्कि जीवत्व की अवधारणा की बात कही गयी है। उपर्युक्त जीव स्थिर हैं और जीवत्व से संपूर्ण ब्रह्माण्ड ओतप्रोत है। जैनियों के अनुसार पृथ्वी सजीव है और इसकी हिंसा नहीं होनी चाहिए। इसके छत्तीस तत्व बतलाये गये हैं जैसे मिट्टी, बालू, लोहा, तांबा, सोना और कोयला वगैरह। इन सभी प्राकृतिक सम्पत्तियों का अत्यधिक दोहन - शोषण नहीं होना चाहिए। इस प्रकार जलकायिक जीवों की भी हिंसा नहीं होनी चाहिए। साहित्यों में जल को दूषित नहीं करने तथा अनावश्यक रूप से उसकी बरबादी न करने की सलाह भी दी गई है। प्रदूषित जल से मानव और जल में रहने वाले जीवों का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है।

जैन सिद्धांतों में वनस्पति को जीवात्वा माना गया है तथा उसमें चेतना की बात स्वीकार की गई है। यहां वनस्पति, प्राणी, भू - तत्व और वायु के आपस में गहरे संबंध हैं, यह स्पष्ट किया गया है। वैज्ञानिक शोध भी इसे स्वीकारते हुए यह बतलाती हैं कि पारिस्थितिक रूप से पौधे, जीव और जानवर तक एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। किसी भी समूह में हस्तक्षेप से दूसरे वर्ग पर उसका कुप्रभाव पड़ सकता है। वनस्पति से जहां हम शुद्ध प्राणवायु - आक्सीजन ग्रहण करते हैं, वहीं वे हमें फूल - फल प्रदान करते हैं तथा वर्षा को लाने में सहायक बनते हैं। वृक्ष से भूमि और वायु का अवशोषण होता है। वनस्पति की उपेक्षा हम नहीं कर सकते। हमारे चारों ओर की हरी - भरी भूमि, हवा तथा पानी हमारा पर्यावरण है। अपने स्वार्थ में हम जहां उन्हें नष्ट कर रहे हैं, वहीं प्रकृति के अविभाज्य अंग पशु, पक्षियों की भी निर्मम हत्या की जा रही है। जैन साहित्य में पशु - पक्षियों तथा पेड़ - पौधों के साथ दुर्व्यवहार की निंदा एवं उनके प्रति हिंसा की भावना का विरोध किया गया है। जिन कीड़े - मकोड़ों को हम बेकार समझते हैं, जैसे केंचुए, मेंढ़क और सांप वगैरह, वे भी हमारी फसल के लिए उपयोगी हैं। उधर जंगलों की बेतहाशा कटाई से दिन प्रतिदिन वर्षा की कमी महसूस की जा रही है। इससे एक तरफ तो हवा में धूल और जहर का प्रवेश हो रहा है, तो दूसरी तरफ वायुमंडल का तापमान बढ़ता जा रहा है। पौधों को काटकर जहां हम अनावश्यक हिंसा बढ़ा रहे हैं, वहीं इससे प्रदूषण की वृद्धि भी होती जा रही है। जैन धर्म में हजारों वर्ष पहले ही पेड़ पौधों के साथ तृण तक में जीव के अस्तित्व की बात स्वीकार कर ली गई थी। आज हमारे लोभ के कारण वन सम्पदा तेजी से घट रही है, जिससे प्राकृतिक संतुलन और पर्यावरण बिगड़ रहा है।

जैन दर्शन में कहा गया है कि यदि किसी जीव के द्रव्य या प्राण को मन, वचन या कर्म से कष्ट पहुंचाया जाता है, तो यह हिंसा है। अहिंसा के अन्तर्गत मात्र जीव हिंसा का त्याग ही नहीं आता, बल्कि उनके प्रति प्रेम का भाव भी व्यक्त करना धार्मिक कृत्य माना गया है। यहां अहिंसा से तात्पर्य मानव संयम और विवेक से है। प्राणियों के कल्याण के लिए व्यक्ति को राग - द्वेष और कटुवचन का त्याग करना चाहिए। विवेक अहिंसा को जन्म देती है, जबकि हिंसा से प्रतिहिंसा होती है। मानव की हिंसक भावना से प्रकृति का संतुलन बिगड़ जाता है।

जैनधर्म के सिद्धांतों एवं उनके आचार - विचार के अलावा हमें तीर्थंकरों तथा जैन मुनियों के जीवन की घटनाओं से भी उनके प्रकृति के प्रति लगाव व प्रेम की झलक दिखलाई पड़ती है। उन लोगों ने हजारों वर्ष पहले से ही स्वयं अपने को प्रकृति के अधिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से अधिक करीब रखा तथा जनमानस को उसी के अनुरूप जीवन जीने की ऐसी पद्धति बतलाई, जिसमें व्यक्ति स्वस्थ व प्रसन्न रह सके। तीर्थंकरों के जन्म के पूर्व उनकी माताओं द्वारा देखे गये स्वप्नों में प्राकृतिक वस्तुओं या घटनाओं का होना प्राकृतिक जगत से सम्बद्ध मंगल या क्षेम के प्रतीक हैं। वनस्पति जगत को कल्पवृक्ष कहकर प्रकृति का सम्मान किया जाता रहा है। महावीर तथा अन्य तीर्थंकरों ने किसी न किसी वृक्ष के नीचे रहकर ही ज्ञान की प्राप्ति की है। पीपल, वट तथा अशोक के वृक्ष हमारे धार्मिक जीवन से लगातार जुड़े हैं। प्राचीन काल में ऋषि-मुनि स्वयं जंगलों में रहकर प्रकृति की सुरक्षा करते थे। जैन विचारकों ने स्वयं सदैव जीव जन्तु तथा वनस्पति के प्रति संवेदना का भाव रखने का संदेश दिया।

आज संपूर्ण विश्व में प्रकृति के असंतुलन का संकट पैदा हो गया है। लोगों ने भौतिकवाद और उपभोक्ता संस्कृति की चकाचौंध में प्रकृति के महत्व को भुला दिया है। अब तो विश्व के वैज्ञानिक यहां तक आशंका प्रगट कर रहे हैं कि आने वाले कुछ दशाब्दियों में पृथ्वी का एक बहुत बड़ा हरा-भरा भाग रेगिस्तान में परिवर्तित हो जायेगा तथा कई क्षेत्रों में इतनी तेज गरमी पड़ने लगेगी कि संभवत: वहां जीवन समाप्त होने का खतरा पैदा हो जाये। इस गंभीर संकट से त्राण पाने के लिए हमें प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं धर्म में प्रयुक्त उन संदेशों का प्रचार-प्रसार करना पड़ेगा, जिससे लोग प्रकृति के महत्व को अच्छी तरह समझें तथा उनके प्रति अपनी निष्ठुर भावना का परित्याग कर सकें। संपूर्ण जैन धार्मिक साहित्य में अहिंसा पर सबसे अधिक ध्यान दिया गया है और इसके सूक्ष्मतम स्वरूप की विशद् व्याख्या की गई है, ताकि लोग सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राकृतिक जीवों के प्रति भी अहिंसक बन सकें। यदि हम विश्व में बढ़ रहे प्रदूषण, अपराध, हिंसा एवं प्राणघातक रोगों पर नियंत्रण करना चाहते हैं, तो हमें स्वयं को प्रकृति के अधिक से अधिक करीब ले जाना पड़ेगा। आज प्रकृति संरक्षण सबसे बड़ी मानवीय आवश्यकता है, जिसमें हर स्तर पर हर व्यक्ति को सहभागी होना पड़ेगा। इस तेजी से बढ़ते वैज्ञानिक युग में आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने अतीत से प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा करने के उपायों को खोजें तथा उनके महत्व को समझें, ताकि मानवता पर आये प्राकृतिक असंतुलन के गहरे खतरे को टाला जा सके।

प्राप्त - 14.2.2002

अखिल भारतवर्षीय जैन पत्रकार सम्केलन

परमपूज्य उपाध्यायरत्न 108 श्री ज्ञानसागरजी महाराज के पावन सान्निध्य में श्रुत संवर्द्धन संस्थान, मेरठ एवं प्राच्य श्रमण भारती, मुज्जफ्फरनगर के संयुक्त तत्वावधान में मार्च-अप्रैल 2003 में एक अखिल भारतीय पत्रकार सम्मेलन प्रस्तावित है। इस सम्मेलन में निम्नलिखित बिन्दुओं पर विचार-विमर्श हेतु पत्रकारों से सुझाव आमंत्रित हैं। कुछ विचारणीय बिन्दु निम्नवत् हैं -

1. जैन पत्रकारिता का स्वरूप एवं उद्देश्य
2. जैन पत्र-पत्रिकाओं की समाजोत्थान में भूमिका
3. जैन पत्र-पत्रिकाओं को वांछित समाज का सहयोग
4. जैन पत्र-पत्रिकाओं की समस्याएँ और उनका समाधान

सम्मेलन स्थल एवं तिथियों की घोषणा बाद में की जायेगी।

■ **कुलभूषण जैन, संयोजक**

सम्पादक - जैन प्रदीप, देवबन्द (सहारनपुर)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानोदय इतिहास पुरस्कार

श्रीमती शांतिदेवी रतनलालजी बोबरा की स्मृति में श्री सूरजमलजी बोबरा, इन्दौर द्वारा स्थापित ज्ञानोदय फाउण्डेशन के सौजन्य से कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर के माध्यम से ज्ञानोदय पुरस्कार की स्थापना 1998 में की गई है। यह सर्वविदित तथ्य है कि दर्शन एवं साहित्य की अपेक्षा इतिहास एवं पुरातत्त्व के क्षेत्र में मौलिक शोध की मात्रा अल्प रहती है। फलत: यह पुरस्कार जैन इतिहास के क्षेत्र में मौलिक शोध को समर्पित किया गया है। इसके अन्तर्गत पुरस्कार राशि में वृद्धि करते हुए वर्ष 2000 से प्रतिवर्ष जैन इतिहास के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ शोध पत्र/पुस्तक प्रस्तुत करने वाले विद्वान् को रुपये 11000/- की नगद राशि, शाल एवं श्रीफल से सम्मानित किया जायेगा।

वर्ष 1998 का पुरस्कार रामकथा संग्रहालय, फैजाबाद के पूर्व निदेशक **डॉ. शैलेन्द्र रस्तोगी** को उनकी कृति **'जैन धर्म कला प्राण ऋषभदेव और उनके अभिलेखीय साक्ष्य'** पर 29.3.2000 को समर्पित किया गया। इस कृति का ज्ञानोदय फाउण्डेशन के आर्थिक सहयोग से कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर द्वारा प्रकाशन किया जा रहा है।

वर्ष 1999 का पुरस्कार प्रो. हम्पा नागराजैय्या **(Prof. Hampa Nagarajaiyah)** को उनकी कृति **'A History of the Rastrakutas of Malkhed and Jainism** पर प्रदान किया गया।

वर्ष 2000 का पुरस्कार **डॉ. अभयप्रकाश जैन (ग्वालियर)** को उनकी कृति **'जैन स्तूप परम्परा'** पर घोषित किया गया है। यह शीघ्र ही समर्पित किया जायेगा।

वर्ष 2001 के पुरस्कार के चयन हेतु प्रक्रिया गतिमान है, इसकी घोषणा अगले अंक में किया जाना संभावित है।

वर्ष 2002 से चयन की प्रक्रिया में परिवर्तन किया जा रहा है। अब कोई भी व्यक्ति पुरस्कार हेतु किसी लेख या पुस्तक के लेखक के नाम का प्रस्ताव सामग्री सहित प्रेषित कर सकता है। चयनित कृति के लेखक को अब रु. 11000/- की राशि, शाल, श्रीफल एवं प्रशस्ति प्रदान की जायेगी।

साथ ही चयनित कृति के प्रस्तावक को भी रु. 1000/- की राशि से सम्मानित किया जायेगा। वर्ष 2002 के पुरस्कार हेतु प्रस्ताव सादे कागज पर एवं सम्बद्ध कृति/आलेख के लेखक तथा प्रस्तावक के सम्पर्क के पते, फोन नं. सहित 31 जनवरी 2003 तक मानद सचिव, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, 584, महात्मा गांधी मार्ग, तुकोगंज, इन्दौर - 452 001 के पते पर प्राप्त हो जाना चाहिये।

जैन विद्याओं के अध्ययन/अनुसंधान में रुचि रखने वाले सभी विद्वानों/समाजसेवियों से आग्रह है कि वे विगत 5 वर्षों में प्रकाश में आये जैन इतिहास/पुरातत्त्व विषयक मौलिक शोध कार्यों के संकलन, मूल्यांकन एवं सम्मानित करने में हमें अपना सहयोग प्रदान करें।

देवकुमारसिंह कासलीवाल
अध्यक्ष

डॉ. अनुपम जैन
मानद सचिव

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष - 14, अंक - 4, 2002, 45 - 47

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

मांसाहार और आधुनिक विज्ञान

■ डॉ. जगदीशप्रसाद *

मानवीय आहार

प्रत्येक प्राणी को जीवत रहने के लिये किसी न किसी प्रकार के भोजन की आवश्यकता होती है। आदि सृष्टि में ईश्वर ने जब मानव को उत्पन्न किया, उससे पूर्व ही उसने उसके लिये अनेक फल - फूल आदि उत्पन्न कर दिये थे, जिन्हें खाकर वह विकसित हुआ। बाद में, फल - फूल के साथ शाक - सब्जी (वैजीटेबल), अनाज और गो - दुग्ध को भोजन में सम्मिलित कर लिया गया। जब जनसंख्या वृद्धि के साथ मानव (आर्य) स्वर्ग (कश्मीर) से पृथ्वी के अन्य भागों में जाकर बसा, जहाँ फल - फूल आदि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं थे, तो उसने कुछ पशु - पक्षियों को मांस खाते देखकर, पहले कच्चा फिर भुना हुआ और बाद में उबला हुआ मांस खाना प्रारम्भ कर दिया। इससे वह रूग्ण हुआ। बुद्धि के विकास के साथ विज्ञान का विकास हुआ। संसार में रूग्णता - अशान्ति आदि के मूल कारणों पर विचार करने की दृष्टि से मांसाहार को विज्ञान की प्रयोगशाला में परखा जाने लगा। इस दिशा में गत एक शताब्दी में इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि में सराहनीय शोध कार्य किया गया है। इस कार्य से निकले कुछ निष्कर्षों को प्रस्तुत करना वर्तमान लेख का उद्देश्य है।[1]

स्वभावत: मनुष्य शाकाहारी प्राणी है। उसके दाँतों, नाखूनों, आँत, लार, आमाशयरस, स्वभाव, आदि मांसाहारी पशुओं से भिन्न है। आहार - निद्रा - भय - मैथुन तो पशु और मानव दोनों में समान हैं। मानवयोनि पाकर भी यदि सारा जीवन इन्हीं चार के लिये व्यतीत कर दिया तो मानव योनि की श्रेष्ठता क्या हुई? इन चार के अतिभोग से तो मानव अशरफ - उल - मखलूकात (संसार की सर्वश्रेष्ठ कृति) नहीं कहा जा सकता। अत: मानव जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति के लिये और शान्ति प्राप्त करने के लिये आवश्यक है कि वह वैज्ञानिक तथ्यों को जीवन - व्यवहार में स्वीकार करें।[2]

मांसाहार से अनेक रोग

लंदन के डॉ. अलैक्जैन्डर हेग ने अपने शरीर पर अनेक प्रयोग करके 'यूरिक एसिड ऐज ए फेक्टर इन दि कोज़ेशन ऑफ डिजीज़' नामक एक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में उन्होंने लिखा है कि उनका वर्षों पुराना सिरदर्द किसी औषधि से ठीक नहीं हुआ जब तक कि उन्होंने अण्डा, माँस तथा मछली खाना पूर्णत: न छोड़ दिया। उनका कहना है कि मूत्र में यूरिक अम्ल के दो स्रोत हैं। पहला नाइट्रोजन युक्त भोजन द्वारा शरीर में उत्पन्न यूरिक अम्ल तथा दूसरा माँस, माँस सूप, माँस निष्कर्ष, चाय, काफी आदि द्वारा शरीर में पहुँचाया हुआ यूरिक अम्ल। इन वस्तुओं के सेवन से शरीर पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है और अन्त में माईग्रेन तथा अन्य सम्बन्धित रोग उत्पन्न होते हैं। मांसाहार से रक्तदाब वृद्धि का रोग हो जाता है। मांसाहार से कोलेस्टेरोल की मात्रा असामान्य रूप से बढ़ जाती है, जो अन्ततोगत्वा हृदय रोग का कारण बनती है, जिससे हृदयाघात की सम्भावना बढ जाती है। उन्होंने एक पचास वर्षीय मांसाहारी व्यक्ति का उदाहरण दिया है जिसे जीवन भर मिर्गी के दौरे पड़ते थे। मांसाहार के स्थान पर शाकाहार लेने से उसके ये दौरे समाप्त हो गये और शेष पच्चीस वर्ष के जीवन भर वह ठीक रहा।

* सेवानिवृत्त रीडर - रसायन शास्त्र, 15, कृष्णापुरी, मेरठ - 250 002

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डॉ. हेग का कथन है कि शरीर की माँसपेशियों की ऐंठन तथा वातोन्माद मूर्छा का मुख्य कारण मांसाहार है। उनका मत है कि मांसाहार को छोड़कर, चाय या काफी आरम्भ करने से भी शरीर की ऐंठन या मूर्छा हो जायेगी। उनके अनुसार मांसाहार से मनुष्य की स्वार्थपरता आदि मानसिक त्रुटियाँ बढ़ने से व्यक्ति पागल तक हो सकता है। उनके प्रेक्षण की पुष्टि करते हुए डॉ. लांगे ने कहा है कि मांसाहार से मानसिक शक्तिहीनता रोग हो जाता है। मांस और मदिरा का चोली - दामन का साथ है। मांस के खाने के पश्चात्, मदिरा की इच्छा को रोकना सम्भव नहीं और मदिरापान के पश्चात् मांस खाने की प्रवृत्ति को रोकना असम्भव है। फ्रांस के डॉ. जीन नुशबॉ का भी यही मत है। डॉ. हेग के अनुसार किसी को जब एक बार मांसाहार का चस्का लग जाता है तो चाय, काफी, सिगरेट की भाँति वह अधिक उत्तेजक की कामना करता चला जाता है, क्योंकि मांसाहार भोजन (न्यूट्रीशन) के रूप में नहीं, बल्कि उत्तेजक के रूप में कार्य करता है। भविष्य के स्वास्थ्य को गिरवी रखने के मूल्य पर वह वर्तमान में जिह्वा का स्वाद लेता है। डॉ. हेग ने लिखा है कि मांसाहार से कोष्ठबद्धता बढ़ जाती है, जबकि फलाहार से यह दूर होती है।[3]

डॉ. विलियम राबर्ट्स ने अपने एक प्रसिद्ध भाषण 'डायबेटिक्स ऐण्ड डिस्पेप्सिया' में कहा है कि मांसाहार में जोड़ों की सूजन तथा सन्धिवात - गठिया नामक भयंकर रोग हो जाते हैं। पशुओं को वध करते समय, उनमें रहे यूरिक अम्ल - विष, मौत के भय से उत्पन्न एडरीनालिन नामक विष[4]अन्य त्याज्य तथा रक्त का निस्सार पदार्थ आदि माँस में मिल जाते हैं। इनसे युक्त माँस खाने वाले को गुर्दों की पथरी के रोग की सम्भावना बहुत अधिक बढ़ जाती है।[5]

डॉ. हेग का मत है कि मछली और मांस में यूरिक अम्ल विष की मात्रा बहुत अधिक पाई जाती है। इस विष के रक्त में मिलने से क्षय (टी.बी.), यकृत की बीमारी, श्वासरोग, रक्ताल्पता, गठिया, सुस्ती, अतिनिद्रा, अजीर्ण, अनेक प्रकार के सिरदर्द, इन्फ्लुएन्जा तथा अनेक प्रकार के ज्वर उत्पन्न होते हैं।[6]

डॉ. वाचमैन एवं डॉ. बन्स्टाइन की सम्मति के अनुसार, जिन व्यक्तियों की अस्थियाँ मांसाहार आदि के कारण दुर्बल हो गई हैं, उन्हें विशेष रूप से अधिक फलों के प्रोटीन तथा गाय के दूध का सेवन करना चाहिये और मांस बिल्कुल छोड़ देना चाहिये। आस्ट्रेलिया के डॉ. डी. के. डॉन ने 'वैजीटेरिएनिज्म - दि बेस्ट डायट' में गम्भीर चेतावनी दी है कि माँस खाने वालों के पेट में अट्ठारह मीटर लम्बा कीड़ा पाया गया है, अत: मांसाहार से बचना चाहिये।[7]

'राइट फूड' में डॉ. ताल्बो (इंग्लैण्ड) का कथन है कि मांसाहार तो केवल नीच, असभ्य अथवा मूर्खों का ही भोजन हो सकता है। मांस खाना तो अपने पेट को कब्रिस्तान बनाना है। MIT (यू.एस.ए.) के 'सेन्टर फॉर ब्रेन साइन्सेज़ एण्ड मेटाबोलिज्म' विभाग द्वारा शाकाहार और मांसाहार पर किये गये तुलनात्मक अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि मांसाहार मनुष्य के शरीर की फिजियोलॉजी के अनुकूल नहीं है। शरीर के अन्तर्गत स्रवित होने वाले विभिन्न प्रकार के हॉरमोनों तथा ऐन्जाइमों पर मांसाहार प्रतिकूल प्रभाव डालता है, जो अन्ततः अनेक रोगों का निमित्त कारण सिद्ध होता है। फिलेडेल्फिया विश्वविद्यालय के डॉ. वर्टमन एवं सहयोगियों ने 1974 ई. में अनेक प्रयोगों के पश्चात् निष्कर्ष निकाला कि आहार की प्रकृति मस्तिष्क के जैव रासायनिक तत्वों तथा सोरोटिन, डोपामिन, नारएपिनिफ्रिन, एसिटाइल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोलिन, हिस्टामिन तथा ग्लासन के संश्लेषण को बड़े पैमाने पर प्रभावित करती है।[8] गायों का मांस बढ़ाने के लिये इंग्लैण्ड में गायों को चारे के साथ अप्राकृतिक भोजन मछली का मांस खिलाने से 'काऊडिज़ीज़' नामक असाध्य बीमारी हो गई।[9] मांसाहार व्यक्तियों में उनींदापन लाता है। कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के शोध-वैज्ञानिक हर्टमैन ने सन् 1970 में तथा हार्वर्ड मेडिकल स्कूल के माइकल योगमैन ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है।[10] स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूयार्क द्वारा बफैलों में की गई शोध से यह प्रकाश में आया है कि अमेरिका में 47,000 से भी अधिक बच्चे ऐसे जन्म लेते हैं, जिन्हें माता-पिता के मांसाहारी होने के कारण कई बीमारियाँ जन्म से ही लगी होती हैं।[11] स्वास्थ्य विभाग के अनुसार, मांसाहार में पाये जाने वाले लिस्टेना नामक विष से दिमाग की झिल्ली में सूजन (मेनिंगजाइटिस) जैसी बीमारी हो जाती है।[12]

पश्चिम में फेफड़ों के पश्चात् सर्वाधिक कैन्सर रोग बड़ी आँत में होता है। फेफड़ों के कैन्सर का बड़ा कारण सिगरेट है। बड़ी आँत के कैन्सर का बड़ा कारण है - पश्चिम में माँस-मज्जा का अधिक प्रयोग और शाकाहार की कमी[13], जिसके कारण ये लोग शौच प्रतिदिन या दिन में दो बार के स्थान पर सप्ताह में दो-तीन बार (कुछ व्यक्ति तो सप्ताह में केवल एक बार और वह भी कोई रेचक औषधि लेकर) ही जाते हैं। मांसाहार ही आज विश्व में अशान्ति का कारण है।[14]

निष्कर्ष

भोजन के प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, विटामिन तथा खनिज आदि अवयवों की दृष्टि से मांसाहार की तुलना में शाकाहार सस्ता, सुस्वादु, स्वास्थ्यवर्द्धक तथा हितकर है। अतः मनुष्य को मांसाहार नहीं, शाकाहार ही लेना चाहिये।

सन्दर्भ

1. डॉ. सुधा गुप्ता, 'मानवीय आहार', एक प्रकाशित ग्रन्थ, पृष्ठ 2, 45.
2. डॉ. जगदीशप्रसाद, 'वृक्षों में आत्मा के सन्दर्भ में भारतीय दर्शन शास्त्रों का वैज्ञानिक अध्ययन', 1996, डी.लिट्. (संस्कृत) शोध प्रबन्ध, चौधरी चरणसिंह विश्वविद्यालय, मेरठ, पृ. 302.
3. डॉ. सत्यप्रकाश, 'ह्यूमेनिटेरियन डायट', पृ. 43-60 तथा 72-76.
4. देखें सन्दर्भ 2 एवं डॉ. नीलम जैन, 'शाकाहार - एक जीवन पद्धति', 1997, प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.), पृ. 26.
5. देखें सन्दर्भ 3.
6. वही
7. वही
8. वही
9. देखें सन्दर्भ 2.
10. देखें सन्दर्भ 3.
11. देखें सन्दर्भ 4.
12. वही
13. हेमचन्द्र जैन एवं नरेन्द्रकुमार जैन, 'जीवन की आवश्यकता : शाकाहार या मांसाहार', 1996, श्री वर्द्धमान जैन सेवक मंडल, दिल्ली, पृ. 15.
14. सुभाषचन्द्र जैन, 'शाकाहार की विजय', 1997, प्राच्य श्रमण भारती, मूजफ्फरनगर (उ.प्र.), पृ. 58.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित साहित्य

क्रमांक	पुस्तक का नाम	लेखक	I.S.B.N.	मूल्य
* 1.	जैनधर्म का सरल परिचय	पं. बलभद्र जैन	81 - 86933 - 00 - X	200.00
2.	बालबोध जैनधर्म, पहला भाग संशोधित	पं. दयाचन्द गोयलीय	81 - 86933 - 01 - 8	1.50
3.	बालबोध जैनधर्म, दूसरा भाग	पं. दयाचन्द गोयलीय	81 - 86933 - 02 - 6	1.50
4.	बालबोध जैनधर्म, तीसरा भाग	पं. दयाचन्द गोयलीय	81 - 86933 - 03 - 4	3.00
5.	बालबोध जैनधर्म, चौथा भाग	पं. दयाचन्द गोयलीय	81 - 86933 - 04 - 2	4.00
6.	नैतिक शिक्षा, प्रथम भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81 - 86933 - 05 - 0	4.00
7.	नैतिक शिक्षा, दूसरा भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81 - 86933 - 06 - 9	4.00
8.	नैतिक शिक्षा, तीसरा भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81 - 86933 - 07 - 7	4.00
9.	नैतिक शिक्षा, चौथा भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81 - 86933 - 08 - 5	6.00
10.	नैतिक शिक्षा, पांचवां भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81 - 86933 - 09 - 3	6.00
11.	नैतिक शिक्षा, छठा भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81 - 86933 - 10 - 7	6.00
12.	नैतिक शिक्षा, सातवां भाग	पं. नाथूलाल शास्त्री	81 - 86933 - 11 - 5	6.00
13.	The Jaina Sanctuaries of the Fortress of Gwalior	Dr. T.V.G. Shastri	81 - 86933 - 12 - 3	500.00
14.	जैन धर्म - विश्व धर्म	पं. नाथूराम डोंगरीय जैन	81 - 86933 - 13 - 1	10.00
15.	मूलसंघ और उसका प्राचीन साहित्य	पं. नाथूलाल शास्त्री	81 - 86933 - 14 - X	70.00
16.	Jain Dharma - Vishwa Dharma	Pt. Nathuram Dongariya Jain	81 - 86933 - 15 - 8	20.00
*17.	अमर ग्रन्थालय में संग्रहीत पाण्डुलिपियों की सूची	संपा. - डॉ. अनुपम जैन एवं अन्य	81 - 86933 - 16 - 6	200.00
*18.	आचार्य कुन्दकुन्द श्रुत भण्डार, खजुराहो में संग्रहीत पाण्डुलिपियों की सूची	संपा - डॉ. अनुपम जैन एवं अन्य	81 - 86933 - 17 - 4	200.00
19.	मध्यप्रदेश का जैन शिल्प	श्री नरेशकुमार पाठक	81 - 86933 - 18 - 2	300.00
*20.	भट्टारक यशकीर्ति दिग. जैन सरस्वती भण्डार, ऋषभदेव में संग्रहीत पाण्डुलिपियों की सूची	संपा - डॉ. अनुपम जैन एवं अन्य	81 - 86933 - 19 - 0	200.00
21.	जैनाचार विज्ञान	मुनि सुनीलसागर	81 - 86933 - 20 - 4	20.00
22.	समीचीन सार्वधर्म सोपान	पं. नाथूराम डोंगरीय जैन	81 - 86933 - 21 - 2	20.00
23.	An Introduction to Jainism & Its Culture	Pt. Balbhadra Jain	81 - 86933 - 22 - 0	100.00
24.	Ahimsa : The Ultimate Winner	Dr. N.P. Jain	81 - 86933 - 23 - 9	100.00
25.	जीवन क्या है?	डॉ. अनिल कुमार जैन	81 - 86933 - 24 - 7	50.00

* अनुपलब्ध

नोट : पूर्व के सभी सूची पत्र रद्द किये जाते हैं। मूल्य परिवर्तनीय हैं।

प्राप्ति सम्पर्क : कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, 584, महात्मा गांधी मार्ग, इन्दौर - 452001

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ARHAT VACANA
Kundakunda Jñānapītha, Indore
Vol. 14, No. 4, 2002, 49-60

THE JAINA HAGIOGRAPHY AND THE ṢAṬKHAṆḌAGĀMA

■ Dr. Bhuvanendra Kumar*

According to the Jaina records, the origin of the Jaina religion can be traced back many millennia to Ṛṣabha, the first ***Tīrthankara,*** also known by the term ***Jina.*** Since his time, there have been a total of twenty-four such ***Jinas,*** the last being Mahāvīra. Thus the envolvement of Jainism occuring over many millennia in subcontinent India will furnish a Jaina hagiography for an historic perspective.

1. Early Jaina Hagiography -

Primarilly, there are two main narrative structures for early Jaina hagiographies : those about the ***Tīrthankars*** who made doctrinal assertions and postulated theories on various philosophical perspectives, and the ***gaṇaḍharas,*** the immediate principal disciples of the ***Tīrthankaras.***

These hagiographies furnish a total of twenty-four names of the ***Tīrthankaras,*** who have taken birth over many millennia. While all ***Tīrthankaras*** reaffirmed the fundamental beliefs of Jaina religion during different socio-cultural eras and civilizations, they often introduced additional philosophical pronouncements which better reflected .existing social and societal ***schema.*** That is, upon enlightenment, each Jina had gathered a set of disciples, known as ***gaṇaḍharas*** who, after receving philosophical postulates directly from their respective ***Tīrthankaras,*** elucidated and elaborated the meaning and essence of various doctrines of their Master into tenets of ethical morals for the larger benefit of human kind.

1.1 The Tīrthankaras

The lives and times of twenty-four ***Tīrthankaras*** living in different eras of subcontinent India have been classified into three periods - proto-historic, pre-historic and histroic.[1]

According to tradition, the first two ***Tīrthankaras,*** Ṛṣabha and Ajitanātha, should be assigned to the proto-historic period, circa 6800-7000 B.C.E. Prof. P.M. Joseph, based on the Jaina text ***Mahāpurāṇa,*** has provided the picture of the socio-anthropological aspects of the times of Ṛṣabha. It was that of proto-historic Indian life where there existed a particular fusion of cultural, social and societal order which was governed by fourteen successive ***Kulakaras*** Nābhirāja was the last ***Kulakara.*** He was followed by his son, Ṛṣabha.[2]

* Editor-Jinamanjari, 4665 Moccasin Trail, Mississauga, ON, Canada L4Z2W5.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Ajitanātha, the son of King Jitaśatru and Queen Vijaya of the kingdom known as Vinītā, succeeded Ṛṣabha. These two *Tīrthankaras* were said to have lived somewhere between the proto-and early pre-historic periods.[3]

The pre-historic period witnessed a flourishing Indus Valley Civilization, and the birth of Sambhavanātha, the third *Tīrthankara*. In the succeeding periods, the births of seven *Tīrthankaras* - from Abhinandana to Śītalanātha have been reported. According to scholars the time of Śītalanātha saw the rise of the Āryans. In the subsequent eras of *Tīrthankara* Śreyāṁsa to that of Munisubrata, the full growth of the Vedic culture occurred. Munisubrata was a contemporary of Daśaratha and Rāma, who were said to be responsible for bringing about reconciliation between the Jainistic (Śramanic) and Vedic systems.[4]

The historic period of sub-continent India begins with *Tīrthankara* Naminātha whose date has been assigned to circa 1400-1200 B.C.E., a period considered as the formative years of the *Upaniśads*. The next *Tīrthankara* Ariṣṭanemi has been assigned to circa 1200-1000 B.C.E. This era has also been considered as the period of the middle or later *Upaniśads*, Pārśvanātha lived from 877-777 B.C.E., and Mahāvīra lived from 599-527 B.C.E.[5]

1.2 The Gaṇadharas and Systemization of Scriptural Knowledge -

The Sacred Scriptures of the Jainas are called the *Āgamas*. Tradition attributes their origin to the times of Ṛṣabha, and states that the *Āgamic* knowledge had been continuously developed up to the times of Mahāvīra and that teaching of the *Tīrthankars* were formalized into doctrional theories by the *gaṇadharas*. That the ancient *Āgamic* literature existed prior to the times of Mahāvīra is supported. According to scholars, ancient Jaina records reveal that the *gaṇadharas* of Pārśvanātha and Mahāvīra had systemized the doctrinal theories of their Masters with a structural scheme and a definite form to the *Āgamas* by importing and systemizing the *Āgamas* by means of stringing them into *sūttas* (Prākrit, SK. *sūtras*.)[6].

One of the names of the *gaṇadharas*, Prabhāra, disciple of Mahāvīra, has been reported from an archaeological site excavated at Vaddamānu in the southern state of Andhra. The inscription occurred in the archaeological stratum dating to circa 300 B.C.E. It mentions the name of one Prabhāra. The hagiographic record reports that Prabhāra was one of the eleven disciples of Mahāvīra. According to Dr. T.V.G. Sastri, Prabhāsa (573-533 B.C.E.) name occuring at Vaddamānu has been Sanskritized to 'Prabhāra as found in the posterior caves of Udayagiri on Orissa.[7] To date this is the first archaeological evidence supporting the hagiographic data of the names of the *gaṇadharas* of Mahāvīra.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

It is an established fact that *Āgamic* knowledge was passed on by the *gaṇadharas* to their disciples. The question is, in what media was this knowledge passed on? Was it oral medium, or written texts?

A number of internal evidences are found in ancient Jaina texts, such as the *Daśavaikālika* of Pontiff Svayambhava (491 - 429 B.C.E.) in circa 452, and ***Bṛhatkalpa, Vyavāhāra*** and ***Niśītha*** works of Pontiff Bhadrabāhu - I (360 B.C.E.)[8] Which point out that *Āgamic* knowledge was passed on to the successive generations by means of written material. They furnish quite a few internal evidence to the fact that they were contemporary works. Also, the earliest Jaina inscription, Barli fragmentary stone record from Rajashtan, belonging to fourth or fifth B.C.E. throws light on the existence of writing and Prākrit literature in India. This inscription, which is at Ajmer Museum, was found in the temple of Bhilot Mātā, about 1.5. kms from Barli village, situated about 54 kms southeast of Ajmer. The stone is a part of the hexagonal pillar and contains four lines, written in Prākrit mixed with Sanskrit. The first line refers to 'Vīra Bhagavāna' (Mahāvīra). According to Halder, the second line refers to a "period (84th year) to the reckoned from the *nirvāṇa* of Mahāvīra, which corresponds to 528 - 27 B.C.E.". According, K.P. Sharma views the date of the inscription would be equivalent to 528 - 84 = 444 or 443 B.C.E. The fourth line contains the name Mājhimika, a Prākrit version of Madhyamikā, a place now known as Nagari near Chittorgarh. On palaeographical grounds, scholars like K.P. Jayaswal, G.H. Ojha and R.R. Halder are of the view that the Barli inscription is anterior to Aśoka, and therefore assigned it to fourth or fifth B.C.E.[9] Coupled with the Barli record and the internal evidences of ancient Jaina texts, it may be easily said that at least from the times of Pontiff Svayambhava (491 - 429 B.C.E.), there were written works available for the diffusion of Jaina philosophy. Based on the Barli record and the internal evidences that occur in ancient Jaina texts, it can be assumed that *Āgamic* knowledge and its diffusion took place through written works. In light of this, a subjective approach and research on archaic writing system in Indian continent would furnish valuable data on the writing itself and certainly would shed light on the nature, growth and diffusion of *Āgamic* thought and its associated literature.

In the predominent Indian view, both the concept of antiquity and the art of writing in India has little attention as the Vedas were said to have been transmitted orally, with no claim of authorship, other than the vedas were the words of God.

There is a body of scholarly opinion that Jainaism is the oldest living religion of Indian subcontinent, tracing its birth to the indigenous Dravidian

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

culture. In view of this, the origin of its ***Āgama*** knowledge can be attributed undeniably to the ***Tīrthankaras*** and the authorship of the ***Āgamas*** to the ***gaṇadharas.*** This leads to one conclusion that succesive Pontiffs passed on ***Āgama*** knowledge, from generation to generation, via written texts and not just by oral tradition.

Other records also indicate that there were attempts to commit the ***Āgams*** into writing. For example, the First Jaina Synod of Pataliputra was convened in circa 358 B.C.E. by Sthūlabhadra (407-308 B.C.E.), the son of Sakatala, the Premier of Nanda King IX. Sthūlabhadra at the time had assumed the position of cheif Pontiff in absence of Bhadrabāhu-I who has travelled south in anticipation of the great famine that would take place in the North.[10] The committing of the ***Āgams*** though took place at the time, it was not universaly convened by Cedi emperor Khāravela of Kalinga, in his 13th regnal year, circa 172 B.C.E. The council was held on the top of Udayagiri hill near present Bhuv..neswar, capital of modern Orissa. The site was a quadrilateral consisting of stone plateform, situated adjacent to the shrine commissioned by Queen Sindhulā. In accordance with the ***samavasaraṇa*** description, a pale red quadrilateral pillar was laid with beryl in front of the Assembly Hall, apparently to serve as ***mānastambha.***[11] Mirji Annarao, a noted scholar of Jainism in Marathi and Kannada, has estimated that this Council was well attended. ***Jinakalpī*** and ***sthavirakalpī*** monks, 200 each in number. Some of the names of the representatives of the first group were Ballisāha, Bhodhalinga, Devācārya and Dharmasenācārya and was led by Sustitha. The latter group was headed by Śyāmācārya. There was the ***ārjikā (Āryikā)*** order, 700 strong. Their chief was Payiṇiye. There was also another 300 other monks, as well as kings, heads of merchant guilds, and laity. The Council presided over by ***Ācārya*** Sustitha, was established to redact the ***Āgama*** scripture.[12]

1.3 Mūlasangha and the Southern Council -

According to Professor Jyoti Prasad Jain, records reveal that the genealogy of Southern ***Mūlasangha*** began from the time of Bhadrabāhu-II (37-14 B.C.E.). He was followed by Kundakunda (41 B.C.E. to 44 C.E.) and Lohācārya (!4 B.C.E. to 38 C.E.) Arhadbali was the next Pontiff of the Southern ***mūlasangha.***

It was during his time that Arhadbali convened the Council of Sothern Monks, and later, at the request of Dharasena of Girnar in Gujrat, he dispatched his disciples Puspadanta (c. 50 to 80 C.E.) and Bhūtabali (c. 26 to 90 C.E.) to Gujrat to study the part of the old scripture which would have become non-existent if not for Dharasena. The Monk, Bhūtabali, has been identified with Nahapāna, the Śaka King Kṣaharāta of Saurāṣṭra by Prof.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain. King Nahapāna was said to have ascended the throne in C.E. 26, and after his defeat at the hands of Gautamiputra Sātakarṇi, he abdicated the throne and became a Jaina monk.[13]

The Jaina text ***Tiloyapaṇṇattī,*** which was originally, written in C.E. 176, reports the above account. According to this next, the first Śaka chief, Kṣaharāta, waged war on Ujjain in 66 B.C.E., and was a predecessor of Nahapāna. It also notes that Nahapāna was rivaled by the Sātavāhana king Gautamiputra Śātakarṇi of Paithan. Nahapāna was defeated in the war at Bhṛgukaccha by Gautamiputra Śātakarṇi. The ***Āvaśyaka*** and ***Cūrṇi*** texts also give some accounts of Nahapāna. Following the defeat at the battle, Nahapāna abdicated the throne and was initiated to Jaina monkhood. Later, he was given the ascetic name of Bhūtabali. The later Śakas - Gasomatika and Caṣṭana - who were in the service of Nahapāna, again rose to power in Ujjaini. Dr. T.V.G. Sastri, who discovered Śaka chiefs' names from Jaina archaeological site, Vaddamānu in Andhara Predesh, has assigned the discovery to the times of Nahapāna. Further, he has noted that the inscription about Dhamuti and his family at Vaddamānu clearly indicates that Dhamuti was a resident of Vaddamānu, and the name, according to Jaina texts, was that of the father of Caṣṭana. The finds from Vaddamānu thus corroborate the royal origin of ***Ācārya Bhūtabali, the Southern Jaina Council of Mahimānagarī, and the composition of the Ṣaṭkhaṇḍāgama***[14]

Accordingly, the Jaina Council of Southern Monks at Mahimānagari on the river bank of Krishṇaveṇā was convened in 66 C.E. by Arhadbali.[15] This has been supported and confirmed by the recent archaeological discovery of a ***Brāmhi*** inscription of about First C.E. found in one of the caves at Akkanna - Māddanna in the Bezawāḍa area of Andhra state[16] This group consequently produced the procanonical work known as the ***Ṣaṭkhaṇḍāgama.*** It was a work of two ***Jainaācāryas*** - Puṣpadanta and Bhūtabali. The work was completed between the years 66 - 75 C.E.[17] Its Hindi edition with commentory ***Dhavalā*** has been published in 16 Volumes.

2. The Ṣaṭkhaṇḍāgama (Scripture in Six Parts)

This post - canonical Prākrit text of the Jainas system is a work clearly cherished by the Digambaras. The name of the text not only referenced in many texts but also appears in the Bijolia lithic record of the Chāhamāna King Someśvara (CE 1169) of Rajashtan. The word ***Ṣaṭkhaṇḍāgama*** has been mentioned in this record in verse 41, and according to Dr. Gopal Krishna Sharma, the term ***Ṣaṭkhaṇḍāgama*** has been used to refer to the ***Āgams.*** The Jaina Saint Dharasena (circa 156 C.E.) taught it to Puṣpadanata and Bhūtabali and it was they who committed it to writing between the years

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

87 to 156 C.E. Soon thereafter, Saint Guṇabhadra, drawing on the same source of Dharasena, complied a second work [14] called ***Kaṣāyaprābhṛta.*** Both these early texts deal with Jaina theories of bondage of the soul. In medieval times, these texts were venerated as ***siddhānta*** in the South and one who mastered it was honoured with the title of ***siddhānta cakravartī,*** as is known in the case of famous author Nemicandra (C.E. 950)[18]. It has been observed that ***Ṣaṭkhaṇḍāgama*** resembles the ***Prajñāpanā***)(explanations) text authored by monk Ārya Śyāma who flourished in circa 79 B.C.E. The resemblance is found in both style and content.[19]

The ***Ṣaṭkhaṇḍāgama*** contains about six thousand long or short aphorisms in Śaurasenī - dominant Prākrit, and is influenced by Ardhamāgadhi, Mahārāṣtrī and other native dialects. It is said to have originated from the treatise of ***Mahākarma Prākṛti Prābhṛta*** on ***Aggāayaṇi*** (Sk. Agrāyaṇī), the second text of the extinct ***Pūrva Aṅga.*** The sub-text has 24 ***anuyogadvāras*** (disquisition doors) and from them that the ***Ṣaṭkhaṇḍāgama*** was developed.[20]

The work deals with the Jainas philosophical system and its various components as applied to living beings in terms of life, the activity thereof by way of mattergy and the final strands of karma bondage. The technicalities and experience processes are the subject matter which the work deals in six parts under the following headings : (1) ***Jivatthaname*** (Prākrit, Sk. is ***jīvasthāna,*** stations of the living beings). (2) ***Kṣudraka Bandha*** (karmic bondage). (3) ***Bandha-svāmitva*** (Specifics of Karma Bondage) (4) ***Vedanā*** (karma experiencing) (5) ***Vargaṇā*** (variforms of mattergy and karma) and (6) ***Mahābandha*** (Great bondage) with eighteen sub-text.

2.1 Commentaries on Ṣaṭkhaṇḍāgama -

Indranandi (C.E. 930) in his work ***Śrutāvatāra*** has mentioned six commentaries. Accordingly, Samantabhadra composed a commentary in Sanskrit, and Padmanandi of Tamilnādu wrote ***Parikarma*** on three parts of the ***Ṣaṭkhaṇḍāgama,*** Vīrasena composed the ***Dhavalā.*** Later, Sāmkundācārya wrote a commentary, using a mix of Prākrit, Sanskrit and Kannada languages, on five parts less the ***Mahābandha.*** Tambulūrācārya of the village of Tumbalure in Karnataka composed ***Cūḍāmaṇi*** in Kannada, Bappadeva also wrote a commentary on five parts excluding ***Mahābandha,*** and on ***Kaṣāya Prābhṛta*** in Prākrit.[21]

3. The Jaina University at Vāṭana and The Dhavalā -

Ancient Vāṭana is identified with Vāni, a village situated 40 kms northeast of Nasik Highway in Mahārāstra. During the reign of Subhatunga Indra, the second king of the Rāṣṭrakūta empire, he commissioned a Jaina Shrine at Vāṭana, which later became the seat of the university. The small

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

range of Candor hills have a series of caves known as the Cambharlen caves, which were used by Jaina monks as their retreat. The monks, according to Prof. Jyoti Prasad Jaina, belonged to the ***Pañcastūpānvaya*** line, which in later years came to be known in Deccan India as Senagaṇa.

The history of ***Pañcastūpānvaya*** begins at Vārānasī. Ācārya Guṇanandi of the line moved from Vārānasī in the fifth century to Pahadpur (in modern Bangladesh), where the disciples founded a Jaina center, which in due course of time, became famous as Batgohāli shrine. In the following century, one Ṛṣabhanandi from Batgohāli shrine traveled south, where Jainism was accorded both large patronage and adherents from the ruling families. Śrisena, a pupil of Ṛṣabhanandi from Batagohāli, also travelled south. During the first part of eight century, Candrasenācārya, a disciple of Śrisena, became the head of the monastic order, which had come down from Batagohāli and had firmly established Senagaṇa. It was Candrasenācārya who founded the Jaina university at Vāṭana. The university was said to have flourished for about 150 years. Nayanandi (C.E. 1042), the author of ***Sudarśena Carite,*** has also referrd to this university. In light of this, Prof. J.P. Jaina has observed that 'it suggests that the author himself not only had heard but had seen it.[22]

The Dhavalā

Ācārya Vīrasena, the celebrated saint and scholar of medieval India, was said to have royal descent. Prof. J.P. Jain has observed that Vīrasena was possibly of Royal descent being an illegitimate son of King Dhavalappadeva of Citogadh in Rājasthān. He was a student at Vāṭana University and later had become a teacher at the university. As well he was said to have been sent by Āryanandi, the Rector of the University, to Citogadh to study canonical works under Elācārya, one of the great canonical scholars of the times.

After his return from Citogadh, Vīrasena was entrusted with the study of the ***Ṣaṭkhaṇḍāgama.*** His study team consisted of six members - Jayasena, his colleague and his pupils Daśarataguru, Śripāla, Vinayasena, Padmasena and Jinasena-II. The study, which was initiated in the year 792 C.E., was the high period of the Rāṣtrakūta empire. During the reign of Jagatunga Govinda-III, who had the title of ***Tribhuvana Dhavlā,*** Ācārya Vīrasena finished 20,000 verses on the 8th of October 816, and in honour of his king Govinda, he named his work as ***Dhavalā.***

Jinasena-II, a pupil of Vīrasena, completed the unfinished part of the work in C.E. 837-38, and his part of the work was called ***Jaya Dhavalā*** in honour of his royal disciple Āmonghavarṣva, who bore the title of ***atiśaya Dhavalā.***[23]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The genesis and popularity of the Dhavalā commentary have solid connection to the Rāṣṭrakūtas in the Deccan and their branch at Hastikuṇḍi, as well was the Chāhamana in Western India. In the Western India branch of the Imperial Rāṣṭrakūtas, the Hastikuṇḍi Rāṣṭrakūtas not only commissioned the Ṛṣabha Jina temple at Hastikuṇḍi, and gave grants, but also named one of the kings as Dhavalā. The Bijapur inscription (C.E. 940) preserved in the Ajmer Museum furnishes the information as to his name and his many endowments to Jaina establishments.[24] As noted already, the appearance of the name of pro-canonical ***Ṣaṭkhaṇḍāgama*** in the Bijoloa lithic record of Chāhamāna king Someśvara, (C.E. 1169) attests to the fact that both works - ***Ṣaṭkhaṇḍāgama*** and its commentary the ***Dhavalā*** were held in high in esteem by kings and ordinary people, from the south to the western part of India.

In this contexts, the adjective ***Dhavala*** stands for bright, white, luminescence, and probably it is an appropriate term for it synthesizes accumulate knowledge and introspection of saint scholars Dharasena, Puṣpadanta and Bhūtabali.

4. The Hindi Edition of Ṣaṭkhaṇḍāgama

There appears to be two principle people who worked on the Hindi edition of the ***Ṣaṭkhaṇḍāgama.*** One was Pandit Hiralal Jain, a reputed ***Siddhānta Śāstri*** and ***Nyāyatīrtha,*** and Prof. Hiralal Jain, the General Editor of the whole 16 volumes of the ***Ṣaṭkhaṇḍāgama*** works, based on the Dhavalā commentary.

4.1 The Dhavalā Manuscript

The ***Dhavalā*** palm-leaves manuscript preserved now at Mūdabidrī in the western part of Karnataka, based on palaeography evidences, belongs the time of Bittivardhana, the Hoysala king, and his queen, Śāntalā. The manuscript is dated C.E. 1113. The records also show that at the time of the Later Gaṅga monarchy, which ruled ***maṇḍali*** - 1000 - ***nāḍu*** in the Tunga and Bhadra river region of Shimoga district of modern Karnataka, the ***Dhavalā*** was copied twice. During the reign of Bhujabala Gaṅga, the copy of ***Dhavalā*** was commissioned by Devamatī, mother-in-law of the king. It was given to Śubhacandradeva (C.E. 1119), the chief preceptor of ***caityālaya*** at Bannikere, commissioned by Bācaladevi, queen of Bhujabala Gaṅga. In the beginning of the twelth century, Mallikabbe, queen consort of Śāntisenarāja, also commissioned the copying work of the ***Dhavalā,*** and gave it to her preceptor, Māghanandi. The Jaina copyists who were well versed in Prākrit, Sanskrit and Kannada had used a specially prepared ink instead of an iron-style so that the work would last longer.[26]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The *Dhavalā* script is in old Kannada, scribed on palm leaves. It was scribed at Śravaṇabelgola, about 200 miles east of Mūdabidre, and was preserved in the *Siddhānta basadi* complex. Sometimes after 1600 C.E., the collection of the manuscripts was moved to Mudabidre.

The content mostly on Prākrit is scribed on 592 strips of leaves which measure 27 inches wide by 3 inches long. The manuscript was rediscovered by Pandit Ṭodarmal (1740-1767 C.E.), who was a scholar of Prākrit, Sanskrit, Hindi and Kannada, which he had taught himself. He had set a plan in motion to collect the *Dhavalā* manuscript such that it could be published. Unfortunately, the project never materialized.[27]

In the next several decades, Manikchand of Solapur (Mahārāṣṭra) saw the manuscript in 1883, and through his efforts - from 1896 to 1922 - the contents of the manuscript were hand scribed by six scholars to repute, one of whom was Lokanātha Sāstri. Copies were made on 1500 sheets of paper measuring 14 by 6 inches in Hindi script and 2800 sheets in Kannada. However, the trustees of the place did not agree to part with the scribed copies. It was with the effort of concealed scribing by the wife of the Kannada scriber, that the Kannada copy of the manuscript found its way out to Saharanpur in north India. There in 1926, it was read by Gajpati Śāstri and scribed in Hindi by Sitaram Śāstri. Later a dozen copies of the material reached Jain temples around the country.[28]

4.2 The Reconstruction of Hindi of Ṣaṭkhaṇḍāgama -

At the 1935 Convention of Jain Mahasabha at Itarsi, the Jain community of India launched the *Dhavalā* project, with specific objectives and guidelines. The monumental project was thus begun, deciphering the *Dhavalā* contents and integrating it with other commentaries.

A team consisting of three scholars - Pandit Hiralal Śāstri, Prof. Hiralal Jain and Pandit Phoolchandra Jain - was entrusted with the project. Pandit Hiralal Sāstri with his deep knowledge of *nyāya* syllogism gained through the study of *Prameya Ratnamāla* of Anantavira had brought inside into the reconstruction work, through the practical usage of Prākrit, *Nyāya* syllogism in conjunction with *anekānta* and its structural elaboration in Jaina thought, therefore, has simplified for the team a larger understanding of Jaina philosophical postulations, particularly of this pro-canonical work.[29]

5. The Satprarūpaṇā Sūtra

Sat has Prākrit roots and it refers to the intrinsic distillate of reality, whereas *sacch* (Prākrit, *satya* in Sanskrit) - truth applies to a statement. The term *prarūpaṇa* (enunciation) is not a *nirūpana* (insight based opinion).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The syllogistic roots of ***pra*** lie in the ***prameya, pramāṇa*** and ***parikchā*** processes of Jaina view for validation, but not necessarily with a specific objective or ***hetu.***[30]

The first one hundred seventy seven ***sūttas*** (Prākrit, ***sūtras*** in Sanskrit) from the first volume known as the ***Satprarūpaṇā.*** It elaborates in the subject of living and non-living entities in terms of the physical concepts of space and time in the realm of the human condition and activity.

The first twenty-three ***sūttas*** of the ***Satprarūpaṇā*** provide a remarkable guide to the deeper issues of the human condition. They bring out the ***Āgamic*** thought of world-view, and asserts that the world in knowable through human efforts to create verified knowledge.

The ***Satprarūpaṇā*** text as a whole conceptulizes the physiognomical system of living being based on the Jaina scriptural reading, and classifies them into fourteen stages, under fourteen ***mārgaṇa*** (investigation) categories and through eight ***anuyogadvāras*** (disquisition doors). This is explained in three sub-texts, namely : (a) Enunciation of Existence (b) Numeration of Living Beings, based on ***Dravyapramāṇānugama*** (one of the disquisition doors (c) ***Eūtikas*** (nine appendices) in three sub-texts.

Outsides of the ***sūttas,*** the subject matter is treated and explained by adopting ***'ogha'*** (generalization) and ***'ādeśa'*** (specialization) descriptional methodology. The contents thus may be summarized by ***sūtta*** numbers in the following presentation :

Mangalācaraṇa (Bendedictory Prologue, s.1), ***Mārgaṇās*** (Methods of Investigations, s.2), ***Anuyogadvāras*** (Disquisition Doors, s.5), ***Ogha*** and ***Ādeśa*** (Descriptional Categories, s. 8-9), ***Gati*** (Destinity, s. 24), ***Indriya*** (Senses, s. 33), ***Kāya*** (Embodiment, s. 39), ***Yoga*** (Activities, s. 47), ***Veda*** (Libido, s. 101), ***Kaṣāyās*** (Passions, s. 111), ***Jñāna*** (Knowledge, s. 115), ***Darśana*** (Conation, s. 123), ***Saṁyama*** (Restraint, s. 131), ***Leśyā*** (Colouration . Aureola, s. 136), ***Bhavyatva*** (Liberatablity, s. 141), ***Samyaktva*** (Righteousness, s. 144), ***Sanjñī*** (Instinctive, s. 172) and ***Āhāra*** (Food intake, s. 175-177),

From this, it can be noted that eight out of the fourteen characteristics like destinity, senses activity, embodiments, libido, instincts, intake and colourations deal with physically living beings; and the rest relate to the psychology of human beings, in terms of passsions, knowledge, conations, righteousness, liberatbility and restraint. Thus, the text takes into consideration both the physical and psychological aspects of living beings. The ***Satprarūpaṇā*** therefore is considered as one of the earliest text in India that deals with such subjects as the biology and psychology of living beings in a structurally systematized

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

presentation. As such, the *Satprarūpaṇā* is an important source for the study of early history of sciences In India.[31]

6. The Completion of Hindi Edition of Ṣaṭkhaṇḍāgama

The maiden edition of *Satprarūpaṇā* in 410 pages was published on the 7th of November 1939. Credits for the authorship of the edition were made in this order: Prof. Hiralal Jain, editor - with Introduction, Translation, Notes, and Indexes ; Pandit Phoolchandra Siddhānta Śāstri and Pandit Hiralal Siddhānta Śāstri Nyāyatīrtha were creditied as co-editors; Pandit Devakinandan Siddhānta Śāstri and Dr. A.N. Upadhye, M.A., D. Litt. were credited for research.[32]

A second volume was followed within the year, and by 1942, the next three volumes were published. This team produced the first five volumes of ***Ṣaṭkhaṇḍāgama.*** Prof. Hiralal Jain had provided the input for the historical context in the European academic format; Pandit Phoolchandra had grammatical and linguistic expertise, and Pandit Hiralal Siddhānta Śāstri Nyāyatirtha had Prākrit etymology and ***nyāya*** based perspective for inference and validation. Secondary intelectual assistance had also came from many, notably Nathuram Premi, Devaki Nandan and Dr. A.N. Upadhye. By 1958, rest of the eleven volumes of the ***Ṣaṭkhaṇḍāgama,*** for a total of sixteen volumes, were published.

REFERENCES -

1. Dr. Bhuvanendra Kumar, ***Jainism in America,*** pp. 42-53, Jain Humanities Press, Canada and USA 1966
2. Dr. P.M. Joseph, ***Jinamañjari,*** oct. 1992.
3. ***Jainism in America,*** pp. 45-46.
4. Ibid., pp.50; 52-53
5. Ibid., pp. 54-60
6. Ibid., p. 68
7. Dr. T.V.G. Sastri, ***Vaddamānu Excavations,*** p. 138., Hydrabad, BACRI, 1992
8. Dr.P.S. Jaini, ***Jaina Path of Purification,*** p. 62, University of California, Berkeley, USA
9. Dr. Krishna Gopal Sharma, ***Early Jaina Inscriptions of Rajasthan,*** pp. 1-3;6-9 Navrang Publication, New Delhi, 1993
10. Dr. Shashi Kant, ***The Hāthigumphā Inscriptions of Khāravela and the Bhabru Edict as*** Aśoka, pp. 62-63, Prints India, Delhi, India, 1971
11. Ibid.
12. Prof. Mirji Annārāya, ***Jaina Dharma,*** p. 164, D.V.K. Murthy Publication,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Mysore. India 1969.

13. *Jainism in America*, p. 82
14. Dr. Jyoti Prasad Jain, ***History of Ancient India from Jaina Sources.*** pp. 111 - 112
15. Ibid., p. 268
16. B.S.L., Hanumata Rao, ***Religion in Andhra,*** p. 165, Archaeological Dept. of Andhra, Hydrabad, 1993
17. Dr. Jyoti Prasad Jain, p. 268
18. ***Satprarūpaṇā,*** Hindi, p.7, ed. of Varṇi Publication. Varanasi, 1971
19. Ibid., pp. 10 - 11
20. ***Jinamañjari,*** Vol.21, April 2000
21. Ibid.
22. Dr. Jyoti Prasad Jain, p. 188
23. ***Jaina Art and Architecture,*** Vol. II, pp. 385 - 386, Bharatiya Jnanpith, Delhi.
24. ***Early Jaina Inscriptions of Rajasthan,*** pp. 17 - 19, 92 - 93
25. ***Jaina Art and Architecture.***
26. Dr. Nagarajiah Hampa, ***The Later Ganas : Mandali Thousand,*** pp. 86 - 88, Ankita Pustaka, Bangalore, India, 1999
27. Satish K. Jain, ***Progressive Jains of India,*** pp. 11 - 12, New Delhi, 1975
28. Dr. Mahendra Kumar Jain, Professor at University of Delaware, USA kindly furnished the information from the handwritten notes of his father ***Siddhānta Sāstri*** and ***Nyayatirtha*** Pandit Hiralal.
29. Ibid.
30. From the Forth coming English edition, ***Satprarūpaṇā of Ācarya Puṣpadanta,*** Jain Humanities Press, Canada and USA
31. Hiralal Jain, ***Prameya Ratnamāla of Anantavira,*** Caukambha Vidyabhavan, Varanasi, 1964.
32. See 1939 Hindi edition of ***Satprarāpaṇa.***

Received : 9.4.2002

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष - 14, अंक - 4, 2002, 61 - 68

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

षट्खंडागम
और धवला, जयधवला, महाधवला आदि उसकी टीकाएँ

■ डॉ. गुलाबचन्द जैन *

आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान एवं आत्मरमणतापूर्वक मन, वचन, काय के सम्यक् निरोध तथा कठिन तपश्चरण के पश्चात् तीर्थंकर प्रकृति की पूर्णता स्वरूप केवलज्ञान की प्राप्ति होती है तथा कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् तीर्थंकरों का सर्वजन हिताय धर्मचक्र प्रवर्तन प्रारम्भ होता है। धर्मचक्र प्रवर्तन के पूर्व इन्द्रादिक देवताओं द्वारा समवशरण की रचना की जाती है। समवशरण में विराजमान तीर्थंकर भगवंतों की वाणी श्रवण करने हेतु मुनि - आर्यिका, देव - देवियाँ, नर - नारी, पशु - पक्षी आदि सभी समवशरण स्थल पर एकत्रित होकर भगवान की ओंकार रूप निरक्षरी वाणी को अपनी - अपनी भाषा में सरलतापूर्वक समझ कर आत्म कल्याण करते हैं। तीर्थंकरों की वाणी में अर्थागम की प्रधानता होती है जिसे कुशाग्र बुद्धि गणधर शब्द शरीर प्रदान करते हैं। तीर्थंकरों के प्रवचनों में करणानुयोग, द्रव्यचर्चा, चारित्रनिरूपण एवं सात्विक विवेचन आदि सभी सिद्धान्तों पर चर्चा होती है। गणधर उन सर्वधर्मात्मक प्रवचनों में से चारित्र विषयक वार्ताओं को आचारांग में, कथांश को ज्ञातृधर्म कथा एवं उपासकाध्ययनांग में तथा प्रश्नोत्तर को व्याख्या - प्रज्ञप्ति एवं प्रश्न व्याकरण आदि अंशों में समाहित कर आगम की रचना करते हैं। इस प्रकार भगवान की वाणी से निःसृत मूलगाथाओं एवं वाक्यांश तथा गणधरों द्वारा उनकी भाषा में प्रस्तुत भाष्य व अर्थ को आगम या मूल सिद्धान्त कहा जाता है। आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त प्रामाणिक होने पर भी आगम की श्रेणी में नहीं आते हैं, उन्हें सिद्धान्त ही कहा जाता है।

आगम - श्रुत या सिद्धान्त अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य दो भागों में विभक्त हैं। भाव की अपेक्षा श्रुत अनादि निधन है - वह न कभी उत्पन्न होता है और न कभी उसका विनाश होता है। जबकि द्रव्यश्रुत कालाश्रित है। योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल में ज्ञानी, निर्ग्रंथ, वीतरागी आचार्यों द्वारा प्रकृष्ट ज्ञान के रूप में इसकी उत्पत्ति होती है तथा इससे विपरीत अवस्थाओं में बाह्य विघ्न बाधाओं के कारण इसका विनाश, अभाव भी हो जाता है।

राजगृह नगरी के विपुलाचल पर्वत पर रौद्र मुहूर्त में, चन्द्रमा के अभिजित नक्षत्र में रहते तीनों लोकों में पूज्य भगवान वर्द्धमान स्वामी द्वारा धर्म तीर्थ प्रवर्तक दिव्य उपदेश - भावश्रुत प्रसारित हुआ था जिसे चारों वेदों में पारंगत एवं षडंग विद्याओं में निपुण सच्चरित्र श्रेष्ठ ब्राह्मण कुलोत्पन्न इन्द्रभूति गौतम ने बारह अंगों और चौदह पूर्व के रूप - श्रुतपर्याय में परिणित किया। अतः द्रव्यश्रुत के कर्ता गौतम गणधर हैं।

शिष्यों को विस्तृत रूप से समझाने के लिये मनीषी आचार्यों द्वारा दशवैशालिक एवं उत्तराध्ययन के रूप में रचित द्वादशांग श्रुत को अंगप्रविष्ट श्रुत तथा तीर्थंकरों की वाणी की मूल भावनाओं के अनुरूप अर्थ रूप में रचित श्रुत को अंगब्राह्य श्रुत कहा जाता है। साधारण अंतर होने पर भी, तीर्थंकरों के प्रवचनकाल में उपस्थित बुद्धि एवं ऋद्धिधारी केवली तथा श्रुतकेवली गणधरों द्वारा निबद्ध किये जाने के कारण दोनों ही श्रुत प्रामाणिक हैं।

अंगप्रविष्ट श्रुत आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्या - प्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदश, अंतःकृतदश, अनुत्तरोपादिक दश, प्रश्न - व्याकरण, विपाकसूत्र तथा दृष्टिप्रवाद रूप बारह अंगों में विभाजित है।

* C/o. राजकमल स्टोर्स, विदिशा (म.प्र.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय एवं पद संख्या के अनुसार -

1. **आचारांग** में अष्ट शुद्धि, तीन गुप्ति एवं पाँच समिति रूप मुनियों के चरण आदि का विस्तृत वर्णन है। इसकी पदसंख्या 18,000 है।
2. **सूत्रकृतांग** में ज्ञान, विनय, प्रज्ञापन, कल्याणकल्प, छेदोपस्थापना तथा व्यवहार धर्मपरक ज्ञान एवं धार्मिक रीतियों का विवेचन किया गया है। इसके पदों की संख्या 36,000 है।
3. **स्थानांग** में एक व अनेक भेदरूप जीव व पुद्गलादि का वर्णन है। इसके पदों की संख्या 42,000 है।
4. **समवायांग** में द्रव्यादि की अपेक्षा एक दूसरे के सहयोग का वर्णन है। इसमें 1,64,000 पद हैं।
5. **व्याख्याप्रज्ञप्ति** - इस अंग में जीव है या नहीं है, इत्यादि का समाधान किया गया है। इसमें छह हजार प्रश्नों के उत्तर भी दिये गये हैं। इसकी पद संख्या 2,28,000 है।
6. **ज्ञातृधर्मकथांग** में जीवादि तत्वों के स्वभाव, रत्नत्रय व दशलक्षण रूप धर्म का स्वरूप तथा भव्य, ज्ञानी सांसारिक महापुरुषों से सम्बन्धित कथाओं का निरूपण एवं संकलन किया गया है। इसमें 5,56,000 पद हैं।
7. **उपासकाध्ययनांग** में गृहस्थ श्रावकों के चरित्र धर्म का आख्यान प्रस्तुत किया गया है। इसके पदों की संख्या 11,70,000 है।
8. **अंत:कृतदशांग** में प्रत्येक तीर्थंकर के काल में घोर उपसर्ग सहन कर अंत: कृतकेवली होने वाले दस - दस मुनियों के चारित्र का निरूपण है। इसमें 23,28,000 पद हैं।
9. **अनुत्तरोपपादिकदशांग** में प्रत्येक तीर्थंकर के काल में उपसर्ग सहनकर अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने वाले दस - दस साधुओं की कथा उल्लिखित है। इसके पदों की संख्या 92,44,000 है।
10. **प्रश्नव्याकरणांग** में त्रिकाल एवं त्रैलोक्य संबंधी अनेक प्रश्नों के उत्तर तथा लोक एवं शास्त्रों में प्रचलित शब्दों के अर्थ दिये गये हैं। इसके पदों की संख्या 93,16,000 है।
11. **विपाकसूत्रांग** में कर्मबन्ध तथा कर्मफलों का वर्णन किया गया है। इसके पदों की संख्या 18,40,000 है।
12. **दृष्टिप्रवादांग** में 363 मतों का उल्लेख व उनका खंडन किया गया है। इसके पदों की संख्या 10,68,56,005 है।

इस प्रकार बारह अंगों के कुल पदों की संख्या 1,12,83,58,005 है।

अंतिम अंग दृष्टिप्रवाद श्रुत के पाँच भेद हैं - परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत एवं चूलिका। पूर्वगतश्रुत भी उत्पाद पूर्व, अग्रायणी, वीर्यानुप्रवाद, अस्तिनास्ति प्रवाद. ज्ञानप्रवाद, सत्य प्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुप्रवाद, कल्याणप्रवाद, प्राणवाय, क्रियाविशाल तथा लोक बिन्दुसार - इन चौदह भेदों में विभाजित है। पूर्वगत श्रुत के इन चौदह भेदों को ही चौदह पूर्व कहा जाता है।

चौदह पूर्वों की विषयवस्तु एवं पदसंख्या निम्न प्रकार है -

1. **उत्पाद पूर्व** में जीव, काल व पुद्गल द्रव्य के उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य आदि के स्वरूप का वर्णन है। इसकी पदसंख्या एक करोड़ है।
2. **अग्रायणी पूर्व** में सात सौ नय व दुर्नयों तथा छह द्रव्य, नौ पदार्थ व पाँच अस्तिकायों का कथन है। इसकी पद संख्या छियान्नवे लाख है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. **वीर्यानुप्रवाद** में छद्मस्थ केवलियों के वीर्य, सुरेन्द्र व दैत्यपतियों की ऋद्धियाँ, नरेन्द्र चक्रवर्ती व बलदेवों की शक्ति एवं द्रव्यों के सम्यक् लक्षण वर्णित हैं। इसकी पद संख्या सत्तर लाख है।
4. **अस्तिनास्ति प्रवाद** में पाँच अस्तिकाय व नयों का विभिन्न पर्यायों के माध्यम से निरूपण किया गया है। इसकी पद संख्या साठ लाख है।
5. **ज्ञानप्रवाद** में पाँचों ज्ञानों की उत्पत्ति के कारण, ज्ञानी, अज्ञानी व इन्द्रियों का विशेष कथन है। इसके पदों की संख्या एक कम एक करोड़ है। ज्ञानप्रवाद पूर्व के भी बारहवस्तु अधिकार हैं तथा प्रत्येक अधिकार बीस - बीस प्राभृत अधिकारों में विभाजित है। इनमें से दसवें वस्तु के 'समय' नामक प्राभृत के मूल सूत्रों का शब्दश: ज्ञान प्राचीन आचार्यों को था। आचार्य परिपाटी के अनुसार उसके अर्थ का ज्ञान श्री कुन्दकुन्दाचार्य को भी था जो उनके द्वारा रचित 'समय प्राभृत' के परिभाषा सूत्रों में परिलक्षित होता है।
6. **सत्यप्रवाद** में वचन गुप्ति व वचन संस्कार के कारण भूत कंठ आदि आठ अंगों, भाषा के बारह प्रकार, वक्ता तथा सत्य व असत्य वचनों के भेदों की विवेचना की गई है। इसके पदों की संख्या एक करोड़ छह है।
7. **आत्मप्रवाद** में आत्मा के अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म तथा षट्कायिक जीवों के भेदों का युक्तिपूर्वक कथन किया गया है। इसके पदों की संख्या छब्बीस करोड़ है।
8. **कर्मप्रवाद** में कर्मों के बंध, उदय, उपशम, निर्जरा, अनुभव प्रदेश बंध तथा कर्मों की जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट स्थितियों का वर्णन है। इसकी पद संख्या एक करोड़ अस्सी लाख है।
9. **प्रत्याख्यानप्रवाद** में मुनिपद के कारण मूल व्रत, नियम, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, तप, कल्प, उपसर्ग, आचार, प्रतिमा, विराधना व आराधना एवं विशुद्धि के उपक्रम तथा सीमित व असीमित द्रव्य एवं भावों के त्याग आदि का विस्तृत उल्लेख किया गया है। इसकी पद संख्या चौरासी लाख है।
10. **विद्यानुप्रवाद** में समस्त विद्याओं, आठ महानिमित्त, रज्जुराशिविधि, लोक का आकार एवं समुद्धात आदि का वर्णन है। इसकी पद संख्या दस लाख है।
11. **कल्याणप्रवाद** में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र व तारागणों की गति व उसका फल, शकुन विचार तथा अर्हन्त, बलदेव, चक्रवर्ती के गर्भावतार आदि का कथन है। इसकी पद संख्या छब्बीस करोड़ है।
12. **प्राणवाय** में आयुर्वेद की अष्टांग चिकित्सा, भूति कर्म, नांगुलि व प्राणायाम आदि का विस्तृत उल्लेख किया गया है। इसकी पद संख्या एक करोड़ छप्पन लाख है।
13. **क्रियाविशाल** में बहत्तर कला, स्त्रियों के चौसठ गुण, शिल्प, काव्य के गुण - दोष तथा छन्द रचना आदि का वर्णन है। इसकी पद संख्या नौ करोड़ है।
14. **लोक बिन्दुसार** में आठ प्रकार के व्यवहार, चार बीज, परिकर्म, व्यवहार, रज्जुराशि, बीजगणित, कलासवर्ण (भिन्नों से सम्बन्धित गणित का एक प्रकार), गुणा, भाग, वर्ग, घनत्व एवं मोक्ष स्वरूप का वर्णन है। इसकी पद संख्या साढ़े बारह करोड़ है।

जैन परम्परा में दृष्टिवाद अंग एवं पूर्वों का विशेष महत्व है। पूर्वों में आत्मा, कर्म, ज्ञान, त्याग आदि के साथ - साथ मंत्र - तंत्र, ज्योतिष, आयुर्वेद व कला आदि का विशेष एवं विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार तीर्थंकर की वाणी को गणधर अपने अपने प्रवर्तन काल में, सर्वप्रथम, पूर्व गत सूत्रों के रूप में ही निबद्ध करते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। सर्वप्रथम पूर्व में रचे जाने के कारण ही इन्हें पूर्व कहा जाता है।

तीर्थंकर महावीर रूप हिमाचल से प्रारम्भ श्रुतज्ञान गंगा प्रवाह केवलि रिद्धिधारी गणधरों - गौतम, लोहार्य व जम्बूस्वामी तथा पाँच श्रुतकेवली - विण्णु, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्धन व भद्रबाहु द्वारा प्रवाहित होता रहा। पश्चात् इस ज्ञानधारा को ग्यारह अंग व दस पूर्वो के ज्ञाता ग्यारह विद्वान आचार्यों - विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव तथा धर्मसेन, पाँच एकादश अंगधारी - नक्षत्राचार्य - जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन तथा कंसाचार्य तथा आचारांगधारी- सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु व लोहार्य आदि आचार्यों ने प्रवाहित रखा। आचारांग व शेष श्रुत के एक देश के ज्ञाता आचार्य धरसेन इस श्रृंखला के अंतिम आचार्य थे। आचार्य धरसेन अष्टांग महानिमित्त के पारगामी विद्वान थे। 'ग्रंथराज धवला' में उल्लिखित कालगणना के अनुसार तीर्थंकर महावीर के पश्चात 62 वर्षों में तीन केवली, 100 वर्षों में पांच श्रुतकेवली, 183 वर्षों में 11 दशपूर्वी, 220 वर्षों में पांच एकादश अंगधारी तथा 118 वर्षों में चार एकांगधारी आचार्य हुए थे। इस प्रकार वीर निर्वाण के 683 वर्ष पश्चात आचार्य धरसेन का अविर्भाव हुआ था।

जैन धर्म सिद्धांतों के प्रकाण्ड विद्वान तथा अंग एवं पूर्वो के ज्ञाता आचार्य धरसेन सौराष्ट्र देश के गिरनार पत्तन के समीप ऊर्जयंतगिरि की चंद्रगुफा में ध्यान अध्ययन में लीन रहते थे। अपने जीवन के अंतिम काल में श्रुत विच्छेद की आशंका से उन्होंने महिमा नगरी स्थित मुनिसंघ के आचार्य को, धर्म सिद्धांतों को ग्रहण एवं धारण करने में समर्थ - दो साधकों को गिरनार भेजने हेतु निवेदन प्रेषित किया। आचार्य धरसेन की इच्छा के अनुरूप मुनिसंघ ने समस्त कलाओं में पारंगत विनयविभूषित, शीलवान तथा देश, काल जाति से शुद्ध दो मुनियों को उनके पास भेजा। इन दोनों मुनियों के आने के पूर्व धरसेनाचार्य ने स्वप्न में दो शुभ्रधवल वृषभों को अपने चरणों में नमन करते देख जान लिया कि श्रुत को धारण करने में समर्थ दो शिष्यों का सान्निध्य शीघ्र प्राप्त होने वाला है। मुनिसंघ से आगत दोनों विद्वानों की परीक्षा लेने हेतु उन्होंने एक साधक को अधिकाक्षरी व दूसरे को हीनाक्षरी मंत्र दे उसे षष्टोपवास विधि से सिद्ध करने का आदेश दिया। मंत्राक्षरों में हीनाधिकता के कारण दो विकृत देवियां - एक बड़े दांतों वाली तथा दूसरी एक आंख वाली प्रकट हुई। मंत्रों के इस कुपरिणाम पर विचार कर मंत्र-व्याकरण में निपुण उन साधकों ने मंत्राक्षरों में आवश्यक परिवर्तन कर पुनः साधना की जिसके फलस्वरूप दोनों देवियां अपने सौम्य रूप में उपस्थित हुई। दोनों साधकों को स्वकार्य हेतु उपयुक्त स्वीकार कर आचार्य श्री ने उन्हें मनोयोग पूर्वक क्रम से सम्पूर्ण श्रुत सिद्धांत महाकर्म प्रकृतिप्राभृत की विस्तृत शिक्षा दी। शिक्षा पूर्ण होने पर हर्षित भूतव्यंतरों ने शंखादि की ध्वनिपूर्वक पुष्पमालाओं से दोनों साधकों का सत्कार किया। भूतों द्वारा सत्कार किए जाने के कारण आचार्यश्री ने एक साधक को भूतबलि व दूसरे को उसकी दन्तावलि के अनुरूप पुष्पदंत नाम प्रदान किया। आयु में भूतबलि पुष्पदंत से छोटे थे।

शिक्षापूर्ति के पश्चात दोनों साधु आचार्यश्री की आज्ञानुसार विहार करते हुए अंकलेश्वर आए तथा वर्षाकाल वहीं व्यतीत किया। वर्षायोग समाप्त होने पर पुष्पदंत एक परिचित साधु जिनपालित के साथ अपनी जन्मभूमि वनवास (कर्नाटक) चले गए तथा भूतबलि ने द्रमिल देश की ओर गमन किया। पश्चात पुष्पदंत ने जिनपालित को दीक्षा दी तथा गुणस्थान एवं मार्गणाओं का प्ररूपण करने वाले बीस प्ररूपणा (अधिकार) गर्भित सत्प्ररूपणा के सूत्रों की शिक्षा दे उन्हें आचार्य भूतबलि के पास भेज दिया। आचार्य भूतबलि ने जिनपालित के निमित्त तथा आचार्य पुष्पदंत की कालावधि समीप जान महाकर्म प्रकृति प्राभृत के विच्छेद होने के भय से, द्रव्यप्रमाणानुगम से लेकर शेष ग्रंथ की रचना शीघ्रता से पूर्ण की।

अष्टांग महानिमित्त के पारगामी आचार्य धरसेन उस काल के श्रुतघर आचार्यों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमुख थे। उन्होंने पुष्पदंत एवं भूतबलि को बारहवें अंग-दृष्टिप्रवाद के अंतर्गत पूर्वों तथा पांचवें अंग व्याख्या-प्रज्ञप्ति के कुछ अंशों की शिक्षा दी थी। आचार्यश्री से प्राप्त ज्ञान के आधार पर इन दोनों मुनिवरों ने वीर निर्वाण संवत् की सातवीं शताब्दि में बीसादिरूप सत्कर्म पाहुड़ के छह हजार सूत्रों की तथा बाद में भूतबलि ने शेष तीस हजार सूत्रों की रचना की थी। यही रचना आगम परमागम षट्खंडागम के नाम से विख्यात है। गणधरों द्वारा प्रस्तुत श्रुत सूत्रों को मूलरूप में लिपिबद्ध करने के कारण यह प्रमाणिक हैं। गोम्मटसार के टीकाकार ने इसे ''परमागम'', श्रुतावतार के रचियता आचार्य इन्द्रनन्दि ने इसे ''षट्खंडागम'' तथा धवलाकार आचार्य वीरसेन ने इसे ''खंड सिद्धांत'' कहा है। षटखंडों में लिपिबद्ध इस सिद्धांत ग्रंथ के पूर्ण होने पर ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन चतुर्विध संघ द्वारा इस सिद्धांत ग्रंथ की विशेष पूजा अर्चना की गई थी। तभी से यह तिथि श्रुत पंचमी के रूप में, जैन जगत में अपना विशेष स्थान एवं महत्व रखती है।

षट्खंडागम में आगम सिद्धांतों की विवेचना छह खंडों में निम्न प्रकार की गई है -

1. **जीवद्वाण** - में सत, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अतर, भाव एवं अल्पबहुत्व - इन आठ अनुयोग द्वार तथा प्रकृति, समुत्कीर्तना, तीन महादण्डक, जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति व गति-अगति - इन नौ चूलिकाओं में गुणस्थान एवं मार्गणाओं का आश्रय लेकर जीव द्रव्य का विस्तृत विवेचन किया गया है।
2. **छुल्लकबंध** - में स्वामित्व, काल, अंतर, भंगविचय, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, जीवकाल, जीव अंतर, भागाभागानुगम, अल्पबहुत्वानुगम, इन ग्यारह प्ररूपणाओं द्वारा कर्मबंध करने वाले जीव का कर्म बंध के भेदों सहित वर्णन है।
3. **बंध स्वामित्वविचय** - में किसी जीव को कितनी प्रकृतियों का कहां तक बंध होता है, किसे बंध नहीं होता है, कितनी प्रकृतियों की किस गुणस्थान में व्यच्छित्ति होती है, स्वोदय एवं परोदय बंध प्रकृतियां कितनी हैं - कौन कौन हैं - आदि के सान्निध्य में जीव की बंधक प्रकृतियों का उल्लेख किया गया है।
4. **वेदना** - खंड के प्रारंभ में गौतम गणधर द्वारा किया मंगलाचरण दिया गया है। इस खंड के दो मुख्य भेद हैं - कृति अनुयोगद्वार तथा वेदना अनुयोगद्वार। कृति अनुयोग द्वार में औदारिकादिक पांच शरीरों की संघातन, परिशीतन तथा संघातक परिशीतन कृतियों का कथन है तथा वेदना अनुयोगद्वार में ज्ञानावरणादि आठकर्मों का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रत्यय स्वामित्व, गत्यंतर, सन्निकर्म, परिमाण व भागाभाग की अपेक्षा कथन किया गया है।
5. **वर्गणा** - में कर्म प्रकृतियों तथा पुद्गल की 23 वर्गणाओं व स्पर्श, कर्म, प्रकृति एवं बंध के साथ-साथ कर्मबंध की कारण भूत मार्गणाओं का विवेचन किया गया है।
6. **महाबंध** - मूल प्रकृतियों एवं उत्तरकर्म प्रकृतियों की अपेक्षा से प्रकृतिबंध स्थितिबंध, अनुभागबंध एवं प्रदेशबंध - इन चतुर्विध बंधों का इस खंड में विस्तृत वर्णन किया गया है। ''श्रुतावतार' के अनुसार षट्खंडागम के प्रथम पांच खंडों की रचना पूर्ण होने के पश्चात स्वयं आचार्य भूतबलि ने चालीस हजार श्लोक प्रमाण इस खंड की रचना की थी।

आचार्य वीरसेन ने ईसा की नवमी शताब्दी में पुष्पदंत एवं भूतबलि द्वारा रचित षट्खंडागम के प्रथम पांच खंडों पर बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण एक वृहत् टीका लिखी थी। यही टीका 'धवला' के नाम से विख्यात है। षट्खंडागम के लिपिबद्ध होने के काल से धवला टीका के पूर्व तक कुछ अन्य आचार्यों ने भी षट्खंडागम की टीकाएं की है किन्तु उनमें से कोई भी टीका आज उपलब्ध नहीं है। आचार्य इंद्रनंदि ने अपने ''श्रुतावतार'' में षट्खंडागम पर रचित कुछ टीकाओं का उल्लेख किया है। यथा -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. कुंदकुंद पुर निवासी आचार्य पद्मनंदि - अपरनाम कुंदकुंदाचार्य ने आचार्य परम्परा से प्राप्त कर्म प्राभृत एवं कषाय प्राभृत के ज्ञान के आधार पर षट्खंडागम के प्रथम तीन खंडों पर प्राकृत भाषा एवं वृत्ति रूप में बारह हजार श्लोक प्रमाण **'परिकर्म'** नामक टीका रची थी। 'धवला' में इस टीका का अनेक स्थलों पर उल्लेख प्राप्त होता है।
2. शामकुंडाचार्य ने षट्खंडागम के प्रथम पांच खंडों व कषाय प्राभृत पर टीका की थी। बारह हजार श्लोक प्रमाण इस टीका की भाषा - प्राकृत, संस्कृत व कन्नडी भाषा का मिश्रित रूप था। पद्धति रूप में लिखे जाने के कारण इसे ''शामकुंड पद्धति'' कहा जाता था।
3. तुम्बुलूर ग्रामवासी आचार्य, जिन्हें उनके ग्राम के नाम से तुम्बुलूराचार्य कहा जाता था ने प्राकृत भाषा में, षट्खंडागम के प्रथम पांच खंडों पर चौरासी हजार श्लोक प्रमाण चूड़ामणि नामक टीका की रचना की थी। इन्होंने षट्खंडागम के छठवें खंड पर भी सात हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखी थी। धवला की प्रशस्ति में इस टीका का उल्लेख है। आचार्य अकलंक देव ने इस टीका की प्रशंसा करते हुए इसे ''तत्वार्थ महाशास्त्र व्याख्यान'' नाम दिया है।
4. तार्किकाचार्य समंतभद्र ने भी षट्खंडागम के प्रथम पांच खंडों पर सरल एवं पांडित्य पूर्ण संस्कृत भाषा में अड़तालीस हजार श्लोक प्रमाण टीका की रचना की थी। पश्चात छठवें खंड पर भी वे टीका लिखने वाले थे जिसे अपनी अस्वस्थता के कारण वे प्रारंभ न कर सके।

षट्खंडागम के लिपिबद्ध होने के पश्चात् सात शताब्दियों में इन टीकाओं की रचना हुई थी। उसके पश्चात आठवीं शताब्दि में धवला आदि टीकाओं की रचना हुई। वर्तमान में वीरसेनाचार्य कृत ''धवला'', ''जयधवला'' एवं ''महाधवला'' टीकाओं के अतिरिक्त पूर्वकृत कोई भी टीका उपलब्ध नहीं है। आचार्य वीरसेन ने बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण, संस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषा में ''धवला'' टीका ग्रंथ की रचना की थी। धवला के अंतिम पद्यों के अनुसार, शक संवत 738, कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी - तदनुसार विक्रम संवत् 873 तथा ई. सन् 816, अक्टूबर 18 को यह रचना पूर्ण हुई थी। शुक्ल पक्ष की अतिधवल चंद्रज्योत्सनावत आत्म कल्याणप्रद श्रुत ज्ञान को प्रकाशित करने वाली इस टीका का ''धवला'' नाम सार्थक प्रतीत होता है। यह टीका महाराज अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्य काल में समाप्त हुई थी। महाराज अमोघवर्ष की एक उपाधि ''अतिशय धवल'' भी थी। अतः इस टीका को 'धवला' नामकरण का एक कारण यह भी संभव है।

''धवला'' टीका प्रारंभ करने के पूर्व टीकाकार के समक्ष षट्खंडागम की अनेक टीकाएं तथा प्रबुद्ध मनीषी आचार्यों द्वारा रचित सिद्धांत साहित्य का विशाल भंडार उपस्थित था। सिद्धसेन दिवाकर कृत ''समय सुत्तम्'' अकलंक देव कृत तत्वार्थ राजवर्तिक, कुंदकुंदाचार्य कृत प्रवचन सार एवं पंचास्तिकाय आचार्य वट्टकेर स्वामी कृत मूलाचार, देवसेनकृत नयचक्रम् तथा आचारांग निर्युक्ति व भगवती आराधना, आप्तमीमांसा आदि अनेक सैद्धांतिक ग्रंथ प्रकाश में आ चुके थे। इन सबके सन्दर्भ 'धवला' में प्राप्त होते हैं जो इसे प्रमाणिकता प्रदान करते हैं।

वीरसेनाचार्य ने धवला टीका में विविक्षित विषयों का प्रतिपादन पूर्वाचार्य परम्परा के अनुसार ही किया है। टीका की निर्वचनिकाओं में भाष्य, चूर्णि, कृत्ति, व्याख्या, प्रश्नोत्तर एवं मौलिक चिंतन - सभी विधाओं के गुण धर्म विद्यमान हैं। सूत्रों की व्याख्या सटीक स्पष्ट एवं अकाट्य है। आचार्य वीरसेन को षट्खंडागम के सूत्रों तलस्पर्शी ज्ञान व उन पर श्रद्धा थी अतः अन्य किसी भी आचार्य द्वारा सत्य के विपरीत की गई व्याख्या उन्हें स्वीकार नहीं थी। आगम सिद्धांतों के विशिष्ट ज्ञाता होने के साथ - साथ वीरसेनाचार्य का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निमित्त, ज्योतिष, व्याकरण व संख्या विज्ञान (गणित) आदि विषयों पर भी पूर्ण अधिकार था। ''धवला'' में इन सभी विषयों का समावेश दृष्टिगोचर होता है। षट्खंडागम का प्रमुख विषय करणानुयोग होने पर भी गणित विषय की बहुलता के कारण इसे गणितानुयोग भी कहा जाता है। अत: जैन गणित के विशेष अध्येताओं के लिए धवला टीका अति उपयोगी व महत्वपूर्ण है।

कुछ आचार्यों ने अपनी कृतियो में आचार्य वीरसेन को स्मरण करते हुए उन्हें नमन किया है।

''प्रसिद्ध सिद्धांत नमरित्तमाली, समस्तवैयाकरणाधिराज:।
गुणाकरस्तार्किक चक्रवर्ती, प्रवादिसिंहोवर वीरसेन॥'' धवला प्रशस्ति

वीरसेनाचार्य प्रसिद्ध षट्खंडादिक सिद्धांतों को प्रकाशित करने वाले सूर्य, सभी वैयाकरणों के अधिपति, गुणों की खान, तार्किक चक्रवर्ती तथा प्रवादीरूप गजों के लिए सिंह के समान हैं।

''श्री वीरसेन इत्यान्त, भट्टारक प्रथुपथ: स:न: पुनातु पूतात्मा वादिवृंदारको मुनि:।
लोकवित्वंकवित्वंचस्थित भट्टारकेद्वयम् वाग्मिता वाग्मिनो यस्यवाचा वाचस्पतेरपि॥
सिद्धांतोपनिबन्धानाम् विधातुर्पदगुरोश्चिरम, मम्मन: सरसि स्थेयान्मृदुपाद कुशेशयम्।
धवलामारतीं तस्य कीर्तिं च शुचिनिर्मलम्, धवलीकृतानि निश्शेष - भुतनांतान् नमाम्यहम्॥''

अर्थात् - अपनी वाणी से वृहस्पति को भी पराजित करने वाले, भट्टारक लोकवित एवं कवित्व आदि गुणों से युक्त, सिद्धांत-आगम उपनिबंधों के विधाता श्री वीरसेन गुरु के चरण कमल मेरे हृदय रूप सरोवर में सदैव विराजमान रहें। चंद्रमा के धवल प्रकाशवत शुचि एवं निर्मल कीर्तियुक्त धवला टीका के रचयिता आचार्य वीरसेन को मैं नमस्कार करता हूँ।

श्रुत सिद्धांतों का ज्ञान व्याख्यानरूप में भी गुरुपरम्परा से प्रवाहित होता रहा था। इस श्रृंखला में मुनि शुभनंदि एवं रविनंदि को भी आगम का विशेष ज्ञान था। उनके प्रमुख शिष्य बप्पदेव गुरु ने भी आचार्यों से प्राप्त ज्ञान के आधार पर षट्खंडागम के प्रथम पांच खंडों पर साठ हजार श्लोक प्रमाण प्राकृतभाषा में ''व्याख्या प्रज्ञप्ति'' नामक टीका लिखी थी तथा उन्होंने बाद में छटवें खंड पर भी बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका की रचना की थी। आचार्य धरसेन के समकालीन आचार्य गुणधर भी अंग व पूर्वो के एक देश के ज्ञाता थे। इन्होंने पांचवें पूर्व की दसवीं वस्तु के तीसरे प्राभृत के आधार पर ''कषायप्राभृत'' ग्रंथ की रचना की थी। आचार्य नागहस्ति के समकालीन आचार्य यतिवृषभ ने कषाय प्राभृत पर छह हजार वृत्ति सूत्रों की रचना की थी। जैन वांग्मय में जो स्थान षट्खंडागम का है वही स्थान कषाय प्राभृत को भी प्राप्त है। वीरसेनाचार्य ने भी कषाय प्राभृत की टीका लिखना प्रारंभ किया था किन्तु बीस हजार श्लोक लिखने के पश्चात उनका निधन हो गया। बाद में उनके प्रमुख शिष्य आचार्य जिनसेन ने चालीस हजार श्लोक और लिखकर यह टीका पूर्ण की थी। कषाय प्राभृत की ''जयधवला'' नामक यह टीका ही वर्तमान में उपलब्ध है। जयधवला टीका में चूर्णि व सूत्रों द्वारा कषायप्राभृत में प्रतिपादित विषयों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत है। ग्रंथ की भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत है।

आचार्य भूतबलि ने षट्खंडागम के अंतिम खंड ''महाबंध'' की रचना अत्यंत विस्तारपूर्वक, चालीस हजार श्लोकों में पूर्ण की थी। षट्खंडागम के अंतिम खंड की एक मात्र उपलब्ध यह टीका ही 'महाधवला'' के नाम से प्रसिद्ध है। ''महाधवल'' के शाब्दिक अर्थ अत्यंत निर्मल के अनुरूप इसमें षट्खंडागम के 'महाबंध'' अधिकार में वर्णित चतुर्विध बंधों की विशद एवं स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत है।

धवला, जयधवला एवं महाधवला की कन्नड़ी भाषा में ताड़पत्रों पर अंकित प्रतियां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूढबिद्री (कर्नाटक) के सिद्धांतवसादि जिनालय मे सुरक्षित हैं। इन ताडपत्रों की लम्बाई 27 इंच व चौड़ाई 3-4 इंच है। जिनशासन की इन महत्वपूर्णनिधियों को सुरक्षा एवं स्थायित्व प्रदान करने हेतु विगत एक शताब्दी से प्रयत्न जारी है। अनेक कठिनाइयों व सतत् प्रयत्नों के उपरांत कन्नड एवं संस्कृत भाषाविद् विद्वानों द्वारा की गई उनकी प्रतिलिपियां वर्तमान में देश के कुछ नगरों - सहारनपुर, कारंजा, आरा, सागर, अमरावती आदि में सुरक्षित है। सन् 1933 में आयोजित अखिल भारतीय दि. जैन परिषद के इटारसी (मध्यप्रदेश) अधिवेशन में विदिशा निवासी सेठ लक्ष्मीचंद द्वारा प्राप्त दान एवं डाक्टर हीरालाल जैन सिद्धांतशास्त्री के सतत् प्रयासों से जिनागम धवला का हिन्दी अनुवाद सहित 16 भागों में पुस्तकाकार प्रकाशन हो चुका है। ''जयधवला'' को भी दिगम्बर जैन संघ, चौरासी मथुरा ने 16 भागों में प्रकाशित किया है तथा ''महाधवल'' भी सात खंडों में भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली द्वारा मुद्रित किया जा चुका है। धवला का तो दूसरा संस्करण भी जीवराज जैन ग्रंथमाला सोलापुर ने प्रकाशित किया है। इन सिद्धांत ग्रंथों के हिन्दी भाषा में अनुवादित संस्करण प्रकाशित हो जाने के कारण वर्तमान में इनका अध्ययन, मनन संभव एवं सुलभ हो गया है। कुछ नगरों के जिनालयों में इन्हें श्वेत संगमरमरर पट्टिकाओं पर भी उत्कीर्णित किया जा चुका है।

ज्ञान गंगा को प्रवाहित रखने में उच्च साधक आचार्यों का प्रमुख योगदान है। आचार्य कुंदकुंद जिन्हें भगवान महावीर एवं उनके प्रमुख गणधर गौतम के साथ-साथ स्मरण किया जाता है, ने वस्तु विचार एवं पदार्थ मीमांसा आदि विषयों को द्रव्यानुयोग में, आचार्य वट्टकेर स्वामी ने लोकालोक के विभाग, युगों के परिवर्तन तथा चतुर्गतियों के स्वरूप को चरणानुयोग में प्रकाशित किया है। इन्हीं के द्वारा निबद्ध मूलाचार मुनियों के आचार पर एक अधिकृत रचना है। जैन सिद्धांतों के गंभीर एवं सूक्ष्म प्रवक्ता स्वामी समंतभद्र की उपासकाध्ययनांग के आधार पर श्रावकाचार को प्रतिपादित करने वाली ''रत्नकरंड श्रावकाचार'' एक उत्कृष्ट रचना है। आचार्य जिनसेन कृत आदिपुराण, रविषेण कृत पद्मपुराण तथा जिनसेनकृत हरिवंश पुराण आदि रचनाओं ने प्रथमानुयोग को विस्तार दिया है। इसी क्रम में आचार्य गृद्धपिच्छ, शिवकोटि, पूज्यपाद, भट्टाकलंकदेव, अमृतचंद्राचार्य, विद्यानंदि आदि आचार्यों के प्रयास भी निरंतर गतिशील रहे। जैन परम्परा में वर्तमान में रचित श्रुत को भी पूर्वश्रुत की भांति ही प्रामाणिकता प्राप्त है। श्रुत के उस शताब्दी के वर्तमान रचनाकारों ने पूर्वश्रुत के आधार पर अनेक सैद्धांतिक ग्रंथों की रचना की है। इनमें श्री राजमल, बनारसीदास एवं कहानजी स्वामी आदि प्रमुख हैं। विस्मृत होते धर्म सिद्धांत एवं आचरण आदि को स्थापित रखने में इन सभी का योगदान स्तुत्य है।

इस प्रकार वीर हिमाचल से प्रवाहित ज्ञान गंगा रूप श्रुत को प्रवाहित रखा। गणधरों एवं अनेक आरतीय आचार्यों ने निरंतरी प्रवाहित रखा। उन सभी को हमारा सादर नमन।

सन्दर्भ

1. धवला प्रस्तावना.
2. जैन दर्शन, प्रो. महेन्द्रकुमार जैन.
3. जैन साहित्य का इतिहास, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री.
4. पं. फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ.
5. महापुराण, आचार्य जिनसेन.
6. जैन सन्तांक, अहिंसावाणी (मासिक).
7. परमागम, श्रुतवाणी.
8. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, श्री जुगलकिशेर मुखत्यार.

प्राप्त : 2.11.200

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष - 14, अंक - 4, 2002, 69 - 72

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

बडोह पठारी के प्राचीन जिनालयों का जैन सांस्कृतिक धरातल

■ डॉ. गुलाबचंद जैन *

मध्य रेल्वे की भोपाल - बीना शाखा पर विदिशा से साठ किलोमीटर दूर कुल्हार नामक एक साधारण स्टेशन है। कुल्हार से पठारी मोटर मार्ग द्वारा 18 किलोमीटर है। पठारी मध्यप्रदेश स्थित विदिशा जिले की पूर्वीय सीमा के समीप पर्वतीय पठार पर बसा एक साधारण ग्राम है। गडोरी, ज्ञाननाथ एवं अन्होरा पर्वत श्रेणियां इसे चारों ओर से घेरे हुए हैं। स्वतंत्र भारत के पूर्व यहां नवाबी शासन था। मुगलकाल में पठारी जिले का सदरमुकाम रहा है। उस काल में यह चारों ओर से एक मजबूत परकोटे से घिरा हुआ था, जिसके भग्नावशेष आज भी दिखाई देते हैं। ग्राम के दक्षिण की ओर कुछ नीचाई पर एक विस्तृत तालाब है जिसके चारों और पक्के घाट व सीढ़िया निर्मित हैं। तालाब के पश्चिम की ओर, कुछ दूरी पर, बडोह ग्राम है। नवमी - दसवीं शताब्दी में यह एक वैभवपूर्ण सम्पन्न सांस्कृतिक नगर था। ग्राम के समीप भीलों की परिधि में फैले विशाल एवं अलंकृत भग्नावशेष इसके पुरावैभव एवं शिल्पकौशल को प्रदर्शित करते हैं। उस काल में यह वटोदक या बड़नगर नाम से जाना जाता था। बडोह के प्राचीन भव्य स्मारकों में गडमरल मंदिर व जैन वन मंदिर समूह प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त कुछ हिंदू स्मारक भी खंडित अवस्था में यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। कला की दृष्टि से यह सभी स्मारक नवमी - दसवीं शताब्दी में निर्मित प्रतीत होते हैं।

गडरमल मंदिर -

एक वृहदाकार पांच फुट ऊंचे चबूतरे पर निर्मित है। अलंकृत चौकी एवं मंदिर के निर्माण कौशल को देखकर इस मंदिर की विशालता एवं कला सौन्दर्य का अनुमान लगाया जा सकता है। मंदिर की ऊंचाई (शिखर सहित) लगभग 80 फुट है। मंदिर के प्रारंभिक मार्ग में एक अलंकृत उन्नत तोरण द्वार था जिसका मात्र एक स्तंभ वर्तमान में अवशिष्ट है। तोरण द्वार के आगे गर्भगृह तक के मार्ग पर दोनों ओर चार व आठ पहल वाले 12 स्तंभ हैं जिनके ऊपर छत निर्मित है। यहां सभामण्डप का अभाव है। गर्भगृह एक साधारण कक्ष के रूप में है जहां वर्तमान में कोई मूर्ति नहीं है। निर्माण कला की दृष्टि में यह मंदिर ग्वालियर किले में निर्मित तेली के मंदिर के अनुरूप है। विधर्मियों द्वारा की गई तोड़फोड के पश्चात जैन धर्मावलम्बियों द्वारा इस मंदिर का पुन: निर्माण किया गया। पुन: निर्माण में समीपस्थ भग्नप्राय हिन्दू मंदिरों की सामग्री का भी उपयोग किया गया जिसके चिन्ह यत्र - तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। मंदिर के पृष्ठ भाग एवं चबूतरे में निर्मित लघुकोष्ठों में देव - देवी प्रतिमाएं थीं जिन्हें आतताइयों द्वारा नष्ट - भ्रष्ट कर दिया गया है। मंदिर की बाह्यभित्ति में नक्काशी युक्त अलंकरण दर्शनीय हैं। शिखर के पूर्वीभाग में कुछ ऊंचाई पर 18 इंच उन्नत एक जैन प्रतिमा उत्खचित है। शिखर भी कलापूर्ण है। पूर्व में मंदिर के तीन ओर कुछ देवकुलिकाएं भी थीं जिनके मात्र खंडहर ही अवशेष हैं।

उत्खनन काल में पुरातत्व विदों को मंदिर के भग्नावशेषों में बालक सहित एक लेटी हुई नारी की मूर्ति प्राप्त हुई थी। जैन धर्म ग्रंथों के अनुसार बाल तीर्थंकर सहित यह तीर्थंकर माता की मूर्ति है। वर्तमान में यह मूर्ति ग्वालियर के गूजरी महल संग्रहालय

* C/o. राजकमल स्टोर्स, विदिशा (म.प्र.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में सुरक्षित है। अन्यत्र भी कुछ जिनालयों में ऐसी ही प्रतिमाएं उपलब्ध हैं। इसी तरह की एक मूर्ति समीपस्थ जैन वन मंदिर समूह के कोष्ठ क्रमांक 13 में भी स्थापित है। इसी जिले के ग्यारसपुर ग्राम के वज्रमठ मंदिर के तृतीय गर्भगृह में भी ऐसी ही एक मूर्ति है। पुरातत्वज्ञ कनिंधम ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है - ''गडरमल मंदिर से प्राप्त मूर्ति एक लेटी हुई नारी व उसके समीप एक लेटा हुआ बच्चा'' - एक जैन मूर्ति है। यह माता त्रिशला एवं तीर्थंकर महावीर की मूर्ति है। शैय्या के नीचे बने सिंह जैन मूर्तिकला के अनुरूप हैं। (एम.पी. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर - विदिशा, सन् 1979)

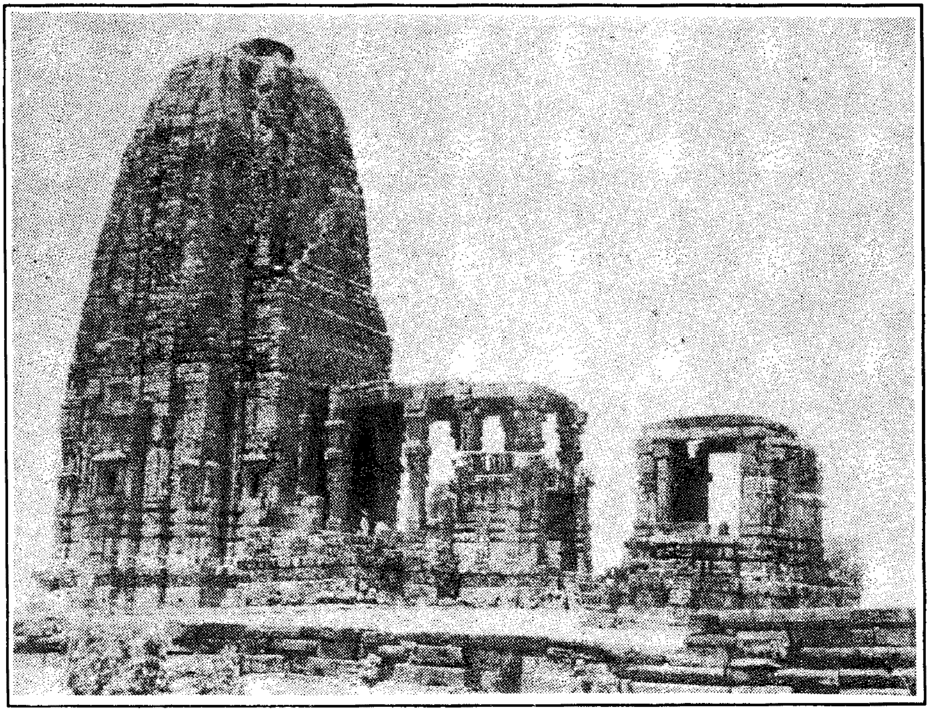

गड़रमल मन्दिर

इस मंदिर के निर्माण के संबंध में एक रोचक लोककथा प्रचलित है। कहते हैं - ''प्राचीन काल में ग्राम की समीपवर्ती पहाड़ी पर ग्राम का एक गडरिया अपनी भेडें चराया करता था। पहाड़ी पर स्थित गुफा से निकलकर एक भेड़ प्रतिदिन उसकी भेडों के पास चरती थी व संध्या समय उसी गुफा में वापस लौट जाती थी। गडरिया प्रतिदिन आश्चर्य से यह सब देखता रहता था। उसके मन में यह जानने की प्रबल उत्कंठा थी कि यह भेड किसकी है, कहां से आती है, कहां चली जाती है? अत: एक दिन उस भेड़ के पीछे - पीछे वह उस गुफा में गया। भेड़ तो गुफा में जाकर अदृश्य हो गई किन्तु प्रस्तर शिला पर ध्यानमग्न बैठे एक मुनिराज उसे दिखाई दिए। गडरिए ने उनसे कुछ कहा कि महाराज! मैं कई दिनों से आपकी भेड़ चरा रहा हूं - मुझे इसकी चराई दीजिए। उन महात्मा ने बिना कुछ बोले, हाथ बढ़ाकर उसकी चादर के छोर पर कुछ डाल दिया जिसे गांठ में बांधकर वह गडरिया वापस चला गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घर आकर उसने अपनी पत्नी को सारी घटना सुनाई। चादर की गांठ खोलने पर उसमें मकई के कुछ दाने ही निकले जिन्हें उसकी पत्नी ने क्रोधवश, कमरे के एक कोने में रखे उपलों के ढेर पर फेंक दिया। दूसरे दिन वह जब उपले उठाने गई तो उसके आश्चर्य की कोई सीमा नहीं रही। जहां उसने उन मुनिराज से प्राप्त मकई के दाने फेंके थे उपलों का वह ढेर स्वर्ण में परिवर्तित हो चुका था। यह देख वे दोनों उस गुफा की ओर भागे किन्तु गुफा तो खाली थी - वहां कोई नहीं था। कहा जाता है कि अकस्मात प्राप्त इसी धन से उस गडरिए ने इस विशाल मंदिर का निर्माण करवाया था। उस गडरिए के नाम पर इस मंदिर को गडरमल मंदिर कहा जाने लगा। आज तक वही नाम प्रचलित है।

जैन वन मंदिर समूह - गडरमल मंदिर से कुछ दूर एक घेरे के भीतर 25 देव - कोष्ठ एक वृहदाकार सहन के चारों ओर निर्मित है। इन देव - कोष्ठों का पृष्ठ भाग मिलकर एक परकोटे का रूप ले लेता है। यहां का प्रवेश द्वार छोटा है। कुछ मंदिरों के ऊपर शिखर हैं। मंदिर क्रमांक 9 का शिखर अन्य शिखरों की अपेक्षा अधिक ऊंचा है। यह प्रकोष्ठ अन्य कोष्ठों की अपेक्षा बड़ा भी है। इन देव कोष्ठों के मध्यवर्ती चौक में एक दीर्घाकार उन्नत मंडप है जिस की अलंकृत छत कलापूर्ण स्तंभों पर आधारित है। मंदिरों का बाह्य पृष्ठ भाग भी अलंकरण युक्त है। यहां बीच - बीच में कुछ मूर्तियां भी उत्खचित हैं।

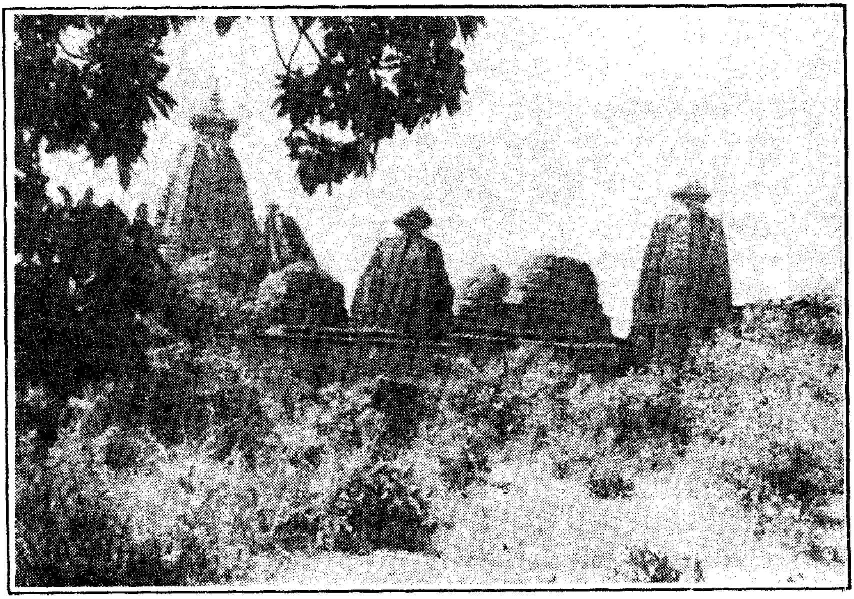

दिगम्बर जैन वन मन्दिर समूह

यह मंदिर समूह एक चौबीसी मंदिर है। पच्चीस साधारण देव कोष्ठों में 19 कुछ अच्छी अवस्था में हैं। वर्तमान में प्रतिमाओं का कोई क्रम नहीं है। फिर भी अधिकांश तीर्थंकरों की प्रतिमाएं यहां स्थापित हैं। इनमें कुछ पद्मासन में हैं व कुछ खड्गासन में। इनकी कोई निश्चित ऊंचाई भी नहीं है। कुछ खड्गासन प्रतिमाएं 6 से 12 फुट तक ऊंची हैं। मुख्य मंदिर क्रमांक 9 में स्थापित तीर्थंकर ऋषभनाथ की प्रतिमा 12 फुट ऊंची है। प्रतिमा का कुछ निम्न भाग भूमि में दबा हुआ है। केशराशि कंधों पर लहरा रही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। आतताइयों द्वारा प्रतिमा के कुछ भाग खंडित कर दिए जाने के बावजूद प्रतिमा कलापूर्ण एवं भव्य है। मूर्तियों की कुल संख्या 44 है।

मंदिर क्रमांक 13 में स्थापित तीर्थंकर माता की प्रतिमा विशेषरूप से उल्लेखनीय है। यह प्रतिमा गडरमल मंदिर से प्राप्त तीर्थंकर माता की प्रतिमा के अनुरूप है। इसमें माता शैय्या पर लेटी हुई हैं। समीप ही बाल तीर्थंकर भी लेटे हुए हैं। माता की सेवा हेतु आई हुई चार देवियां भी शिलाफलक पर उत्कीर्णित हैं। हरिवंश पुराण के अनुसार ये रूचकप्रभा, रूपकामा, रूचिका एवं रूचिकोज्वला - चार विद्युत कुमारियां हैं जो जिनेन्द्र के जात कर्म में सहायक करती हैं - उनकी सेवा करती हैं। श्री बाहुबली की 8 फुट ऊंची एक प्रतिमा भी यहां है।

यहां कोई शिलालेख प्राप्त नहीं हुआ है। दो मंदिरों के गर्भगृह की बाह्य प्रस्तर चौखट पर निम्न लेख उत्कीर्णित हैं - ''(1) ॐ स्वस्ति श्री द्वादस मंडले आचार्य केवलि: द्विजै भूपचंद्रस्य स....3 सं. 1113, (2) स्वस्ति श्री देवचंद्र आचार्य मंत्रवादिन: सं. 1134।'' इन लेखों से यह स्पष्ट है कि इन मंदिरों का निर्माण बारहवीं शताब्दी में हुआ था।

जैन मंदिरों के अतिरिक्त दशमावतार आदि हिन्दू मंदिरों का कला सौष्ठव भी दर्शनीय है।

पठारी ग्राम में प्रस्तर निर्मित एक विशाल प्राचीन एवं शिखरयुक्त भव्य जिनालय है। सन् 1635 ई. में एक जैन व्यापारी ने इस मंदिर का निर्माण करवाया था। मंदिर के प्रस्तर स्तंभ एवं छत अलंकृत है। मूलनायक तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की कायोत्सर्ग प्रतिमा 12 फुट ऊंची है। प्रतिमा पर नीचे निम्न आलेख उत्कीर्णित है -

''संवत 1662 फाल्गुन सुदी 7 बुधे श्री मूलसंघे, सरस्वती गच्छे कुंदकुंदाचार्यन्वये भट्टारक श्री पद्मनंदि देवा, तत्पट्टे रत्नकीर्ति देवा - अष्टशाखे गोहिल गोत्रे सरपंच नरसिंह पाण्डे तत्पुत्र शाह राहोत भार्या रूक्मिणि तत्पुत्र ....हल्के भार्या....रत्न तत्पुत्र भगनीराज नित्यं प्रणमति - चौ. रामचंद्र बाधोरा''

भगवान ऋषभनाथ के अतिरिक्त सन् 1414 में प्रतिष्ठित, कृष्ण पाषाण निर्मित दो मनोज्ञ तीर्थंकर प्रतिमाएं और भी है। अनेक ताम्रपत्र एवं शास्त्र भंडार में कुछ प्राचीन ग्रंथ भी हैं। मंदिर के समीप ही एक कुंआ है, जिसमें लगे शिलालेख के अनुसार विदिशा निवासी विशुद्ध परवार जातीय, कौशल गोत्रीय उदयमान, तुलाराम आदि ने इस कूप का निर्माण करवाया था।

पठारी स्थित एक प्रस्तर में निर्मित, चालीस फुट ऊंचा भीमगजा स्तंभ दर्शनीय है।

प्राप्त : 20.06.2000

(प्रस्तुत आलेख स्व. श्री गुलाबचन्दजी जैन, विदिशा को श्रद्धांजलि स्वरूप प्रकाशित है। सम्प्रति वे 02.07.2001 को हमारे बीच नहीं रहे।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष - 14, अंक - 4, 2002, 73 - 76

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

सराक लोक कला की सांस्कृतिक धरोहर

■ डॉ. अभयप्रकाश जैन *

संस्कृति किसी क्षेत्र प्रदेश विशेष की सीमा में सीमित नहीं होती। निरन्तर प्रगतिशील मानव - जीवन प्रकृति और मानव - समाज के जिन - जिन असंख्य प्रवाहों, प्रभावों और संस्कारों से प्रेरित, प्रभावित और संस्कृत होता रहता है, उन सबके सामूहिक स्वरूप को ही हम आज संस्कृति की संज्ञा से सम्बोधित करते हैं। यही विरासत सराक संस्कृति पर लागू होती है। सराक जाति जैन संस्कृति की पक्षधर है ये प्रभाव और संस्कार किसी एक निश्चित काल अथवा किसी एक निश्चित क्षेत्र के नहीं होते। आज सराक संस्कृति के चिन्ह प्रतीकादि वहां के लोक व्यवहार और साहित्य और लोक कला परम्परा में दृष्टिगत होते हैं। यह सराक संस्कृति की संवेदनशीलता, सुसंस्कार और उसकी अर्जित अस्मिता का जीता - जागता प्रमाण है। परम्पराऐं अनवरत चलती हैं, भले इनका स्वरूप बदल गया हो। यही कारण है सराक संस्कृति और लोक जीवन तत्कालीन समाज की झांकी आज भी बिहार, उड़ीसा, बंगाल के अंचलों में देखने को मिल जाती है। आर्थिक रूप से सराक समाज के गांव काफी पिछड़े हैं फिर भी मूल योजना में मांडने की कला एवं चित्रों में भाव व्यंजना के अनोखे एवं अद्भुत सौन्दर्यशाली उदाहरण मिलते हैं। लोक कला शैली में जो सराक महिलाऐं चित्र बनाती हैं उनमें कुछ कथात्मक दृश्य, चित्र पटल पर विविध आकृतियां यद्यपि दूसरे से स्वतंत्र रूप से चित्रित होती हैं। परन्तु भाव - भंगिमा द्वारा परस्पर जुड़ी हुई होती हैं। भगवान महावीर को अभिषेक के लिये ले जाती हुई महिलाऐं हाथियों पर शोभायमान हैं, जन्माभिषेक पर देवों द्वारा रत्नों की वर्षा, त्रिशला मां के सोलह सपने, शोभायात्रा की सुविस्तीर्ण रचना में एकात्मक भाव के अविकल आयोजन की अद्भुत छटा है। बिहार, उड़ीसा, बंगाल की प्राचीन सामाजिक व्यवस्था में सराक स्त्रियां ही हमारी समृद्ध लोक कला की धरोहर को संरक्षित करके रख पायी हैं। इस कला को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पहचान मिलनी चाहिए, इस ओर कदम उठाए जाना चाहिए।

आपका प्रश्न होगा कि सराक आर्यों के आगमन से त्रस्त हुए और संस्कृति को ध्वस्त किया गया तब कुछ समूह अपनी आदिम संस्कृति को कैसे बचाये रख सके? कई समूह सफलतापूर्वक सामाजिक संविलियन का विरोध करते रहे। इस विरोध की कीमत भी उन्हें चुकानी पड़ी। अपनी सांस्कृतिक विरासत और अस्मिता को बचाये रखने के लिये उन्हें नव विकसित सांस्कृतिक केन्द्रों से दूर वनों और पर्वतों की शरण लेनी पड़ी। इस एकान्त में सराक प्रजाति ने अपनी जीवन शैली की विशिष्टता को बचाये रखा। धीरे - धीरे उन पर सांस्कृतिक और धार्मिक दबाव बढ़ते गए। उनमें से कुछ हिन्दू बन गए, कुछ हठधर्मी थे वे इस प्रक्रिया का अंग बनने में सफल हुए। संख्या के अतिरिक्त उनका जैन परिवेश भी इस विरोध को सफल बनाने में सहायक हुआ। कई छोटे - छोटे समूहों में सराक लोग ऐसे सुदूर और अगम्य भागों में बस गए जिससे उन्हें लम्बा समय तक छेड़ा नहीं जा सका और सराक समुदाय अपनी प्रजातीय शुद्धता और सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को बचाए रख सके। सराक प्रजाति कला और उसकी शैली की रूपरेखा का परिचय प्राप्त करने के लिये उसके प्रमुख लोक तत्व, प्रमुख प्रतीकों का अध्ययन करना नितांत आवश्यक है। इस दृष्टि से सराक लोक चित्रकला में जो प्रमुख प्रतीक प्राप्त होते हैं उनमें तीर्थंकरों की माता के सोलह शुभ स्वप्न, अष्ट मांगलिक शुभचिन्ह, तीर्थंकर के आसन के रूप में ईषत्प्रभार या

* एन - 14, चेतकपुरी, ग्वालियर - 474 009

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध शिला, समवशरण की रचना आदि हैं। सराक लोक चित्रकला में अलंकरणों का प्रयोग अपनी विशेषता लिए है। इनके अतिरिक्त स्वस्तिक, श्रीवत्स, नंद्यावर्य, वर्धमानक्य, भद्रासन दर्पण आदि चित्र मिलते हैं। सराक चित्रकला में पार्श्वनाथ और महावीर के चित्र अधिकांश मिलते हैं। नारी चित्रित करने के लिए तीर्थंकरों के दोनों और यक्ष - यक्षिणी तथा तीर्थंकरों की अधिष्ठात्री देवियां, अम्बिका, पद्मावती, सरस्वती, शासन चक्रेश्वरी और सोलह विद्यादेवियों के चित्र अंकित किए जाते हैं। विविध अनुष्ठानों, विधानों में जैन प्रतीक चिन्ह बनाए जाते हैं यही प्रतीक चिन्ह आज भी बनाए जाते हैं।

रंग योजना की दृष्टि से सराक लोक कला कृतियों का अवलोकन करने पर प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक काल में इनमें हल्दिया रंगों का प्रयोग अधिक मात्रा में होता था बाद में लाल रंगों का प्रयोग अधिक मात्रा में होने लगा। इसके अतिरिक्त आसमानी पीला, नीला, श्वेत रंगों का भी समावेश किया गया है। सुनहरी स्याही का प्रयोग भी इनमें अधिक होने लगा था। सराक चित्रकला में पौराणिक वनस्पति रंगों का स्थान अब आधुनिक रंगों ने ले लिया है। स्वर्ण रंग जैन चित्रों की विशिष्टता रही है जो आज भी पहले की तरह दिखाई देती है।

सराक लोक चित्रकला में वस्त्र, आभूषण, मुकुट और मालाओं की सज्जा पर अधिक ध्यान दिया जाता है। नारी श्रृंगार में माथे पर हिन्दी, कानों में कुण्डल, बांहों में बाजूबन्द आदि का अंकन किया जाता है। गले में रत्न मालाओं को प्रधानता दी जाती है जो सभी चित्रों की विशेषता है। वस्त्रों में धोती की सज्जा मोहक / सुफड़ है। प्रारम्भिक चित्रों में श्वेत तथा स्वर्णिम रंग की प्रधानता वस्त्रों में अधिक थी जिसका स्थान बाद में ईरानी प्रभावी के कारण बेलबूटों की पच्चीकारी ने ले लिया। बाद के चित्रों में मुकुट के स्थान पर पगड़ियों का अंकन होने लगा। जहां पुरुषों के वस्त्रों में धोती व दुपट्टे प्रमुख हैं वहां नारी चित्रों में कंचुकी, रंगीन धोती, चुनरी और कटिपट का प्रयोग मिलता है।

इस प्रकार सराक चित्रकला की परम्परा के अन्तर्गत जो कार्य हुआ है उसने भारतीय चित्रकला का विकास मार्ग प्रशस्त किया है। चित्रकला की लोक पद्धति की शैलियों में जैन सराक चित्रकला प्रमुख रही है। देश में जैन चित्रकला के माध्यम से यह परम्परा अनवरत चलती रही। भारतीय चित्र शैलियों में वेलबूटों की जन्मदात्री सर्वप्रथम जैन चित्रकला ही रही है। जैन चित्रकला ने अपनी परम्परागत धार्मिक निष्ठा स्थिर बनाए रखी। लोककला के उन्नत स्वरूप के रूप में इस कला में अल्पना चित्र का अंकन किया जाता रहा है साथ ही मिट्टी, पत्थर व हाथी दांत पर भी चित्र उकेरे जाते थे।

सराक क्षेत्र के भित्ति चित्रों में खनिज रंगों का उपयोग मिलता है। इनमें कुछ मूल रंग ही होते हैं जिनमें केनड़ी (हल्का हरा), हिर मिजी (हरा), सिमरिक (लाल), नील (नीला), त्योड़ी (भाऊ अंवर), काजल आदि हैं। रंगों के खनिज पत्थरों को घिस कर उनमें किरेटिन या गोंद मिलाकर तैयार किया जाता है, ये रंग अधिक समय तक स्थायी बने रहते हैं। काला रंग बुझा हुआ चूना, गोंद का काजल मिलाकर तैयार किया जाता है। काले रंग से भित्ति अलंकरण भी बनाए जाते हैं, काली स्याही के रूप में इसी काले रंग का उपयोग होता है।

पौराणिक भित्ति चित्रों में स्वर्ण रंग की प्रधानता रही है जो आज भी मंदिरों की चित्रकारी में विद्यमान है। स्वर्ण के टुकड़े को साइनाइट में रख देते हैं वह धीरे - धीरे तरल होने लगता है। इस स्वर्ण लेप को चित्रों में लगाया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सराक क्षेत्र की लोककला चित्र शैली, संयोजन अनूठा है रंग विधान शैली आदि का विवेचन प्रमुख प्रतीकों, अभिप्रायों के अर्थ उनके अंकनों पर मैंने प्रकाश डाला है। सराक लोकशैली का प्रत्येक चित्र जैन धार्मिक भावना से ओतप्रोत रहता है यह एक मुख्य विशेषता है। सराक प्रजाति के लोक चित्रांकन विषय पर एक स्वतंत्र रूप से शोध प्रबन्ध लिखा जा सकता है। सराक विरासत, पुरातत्व इतिहास, सामजिक आर्थिक स्वरूपों पर पृथक - पृथक शोध की महती संभावनाएें हैं। आवश्यकता संदर्भों के उजागर करने की है।

सन्दर्भ

1. Folk Miniature Paintings of Samthal, Dr. P. Chandra, Colarado (U.S.A.)

Jain Inflence on Folk Art, Dr. P. Chandra.

3. एन्थ्रोपोलीक जनरल, Dec. 84, P. 154.

सराक चित्रकला के कतिपय नमूने

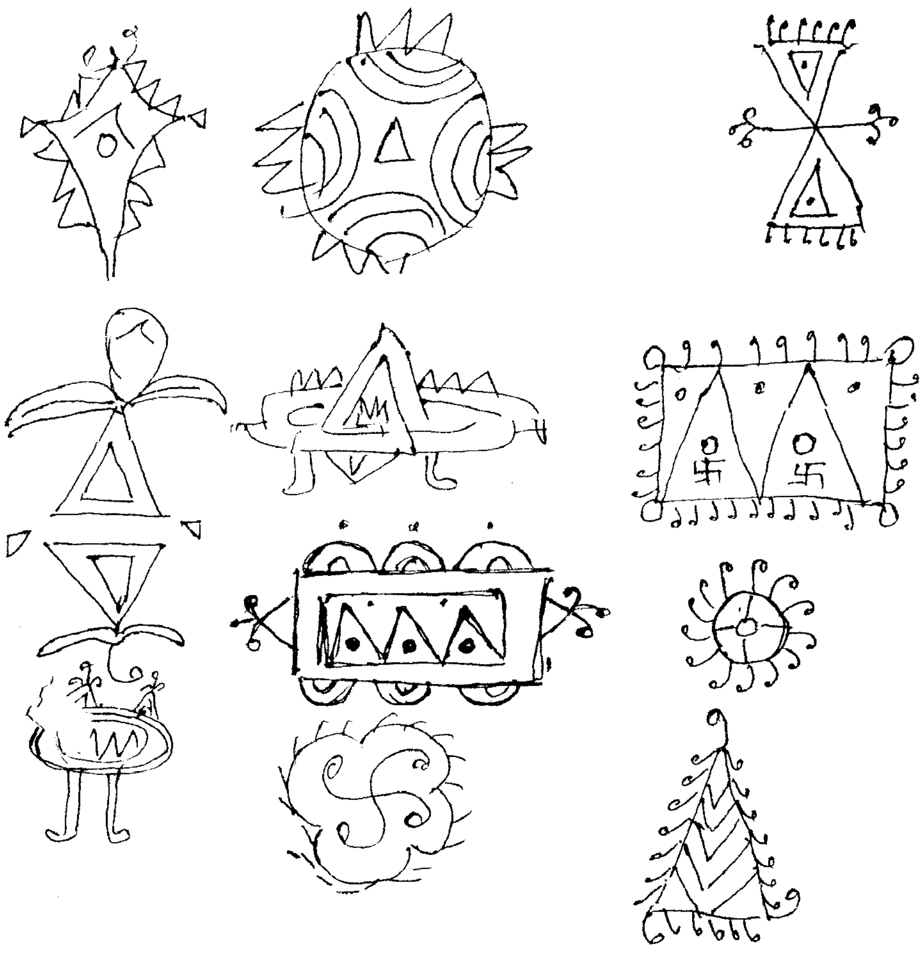

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

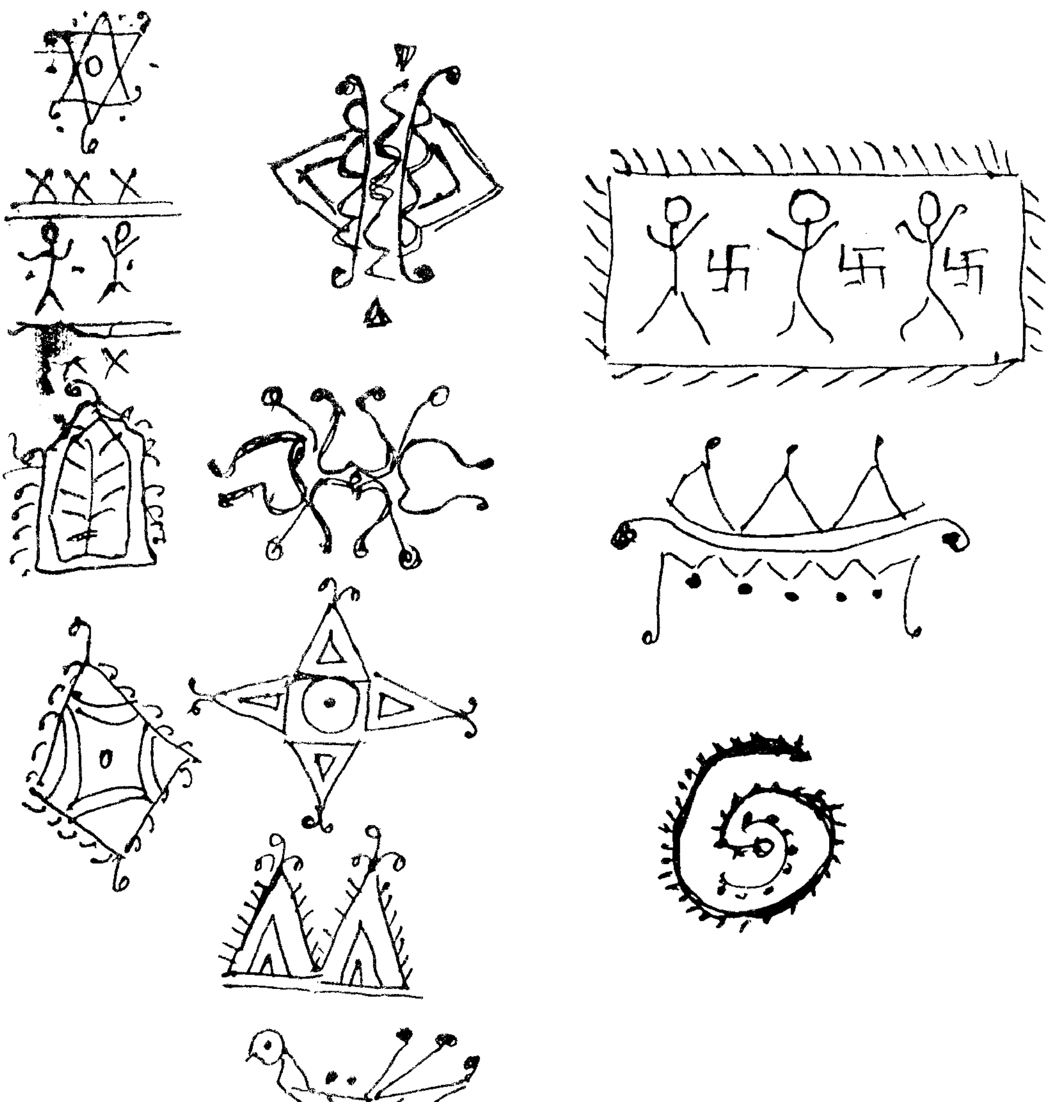

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष - 14, अंक - 4, 2002, 77 - 80

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

जैन दर्शन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

■ रामजीत जैन एडवोकेट *

मानव उत्पत्ति कैसे हुई, कहाँ से हुई, किस स्थान में और किस रूप में हुई इन बातों के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। किन्तु विभिन्न मत - मतान्तरों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निर्बाध निकाला जा सकता है कि पृथ्वी तल पर मानव के सर्वप्रथम अस्तित्व के जिस समय से प्रमाण मिलते हैं तभी से भारतवर्ष में वह विद्यमान था। अतः यह तथ्य निःसंदेह स्पष्ट है कि मानवीय इतिहास के प्रारम्भ काल से ही भारत भूमि मनुष्य की लीला भूमि रही है। मानव और उसकी आदिम प्रागैतिहासिक सभ्यता के विकास का युग भूतात्विकों एवं प्रागऐतिहासज्ञों की भाषा में चौथा काल कहलाता है।

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति कही जाती है। इस संस्कृति में दो महान धाराओं का मिलाप है श्रमण और वैदिक। दोनों धाराओं की अपनी - अपनी संस्कृति रही है। वैदिक संस्कृति 'ब्रह्म' की पृष्ठभूमि से उद्भूत हुई है जबकि श्रमण संस्कृति 'सम' शब्द के विविध रूपों और अर्थों पर आधारित है। वैदिक संस्कृति में परतंत्रता, ईश्वरावलम्बन और क्रियाकाण्ड की चरम प्रवृत्ति देखी जाती है, जबकि जैन संस्कृति स्वातन्त्र्य, स्वावलम्बन, विशुद्ध एवं आत्मा की सर्वोच्च शक्ति पर विश्वास करती है।

श्रम शब्द की व्याख्या में ही श्रमण संस्कृति का आदर्श निहित है। जो श्रम करता है, तपस्या करता है और अपने पुरुषार्थ पर विश्वास करता है, वही श्रमण कहलाता है। अपने पुरुषार्थ पर विश्वास करने वाले और पुरुषार्थ द्वारा आत्म - सिद्धि करने वाले क्षत्रिय होते हैं। इसलिये कहना होगा कि श्रमण संस्कृति पुरुषार्थ क्षत्रिय संस्कृति रही है।

मैं जीना चाहता हूँ। आप जीना चाहते है। हमारे आस - पास का जीव जगत जीना चाहता है। सब की जीजीविषा में तालमेल बिठाने वाली जैन परम्परा का व्यवस्थित इतिहास है। लोग नहीं जानते कि इस परम्परा का ताना - बाना तीर्थंकरों के साथ बुना हुआ है। तीर्थंकर 24 हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के शासन में साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका के तीर्थ स्थापित होते हैं। तीर्थ स्थापना के समय सबसे पहले गणधरों को मुनि दीक्षा दी जाती है। गणधर विभिन्न गणों के रूप में तीर्थंकर की श्रमण सम्पदा के सम्यक् वाहक होते हैं। तीर्थंकर प्रवचन करते हैं। गणधर उनसे आगम की रचना करते हैं।

जैन परम्परा के प्रारंभ कर्त्ता अयोध्या प्रदेश के नाभि सुत ऋषभदेव थे। जब तक भारत रहेगा तब तक ऋषभदेव और उनके पुत्र भरत का नाम अमर रहेगा। संस्कृत की ऋष धातु (क्रिया) है जिसका अपभ्रंश अंग्रेजी का रिसर्च है अर्थात् अनुसंधान है। ऋषभदेव ने मानवीय अस्तित्व का अनुसंधान किया कि बिना तप और अहिंसा के मानवता का अस्तित्व स्थिर और स्थित नहीं रह सकता। अहिंसा और तप ही मानव की संजीवनी शक्ति है। ऋषभ से तात्पर्य अनुसंधान और प्रगति। उसकी 'भा' = आभा (प्रकाश) को देने वाला आर्ष व्यक्तित्व ऋषभ। शास्त्रों में सर्वश्रेष्ठ को ऋषभ कहा जाता है।

ऋषभदेव ने पाषाणकालीन प्रकृति पर आधारित असभ्य युग का अंत करके ज्ञान - विज्ञान संयुक्त कर्म प्रधान मानवी सभ्यता का भूतल पर सर्वप्रथम ॐ नमः (प्रारम्भ) किया। उन्होंने असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्यारूप लौकिक षट्कर्मों का तथा देवपूजा, गुरु भक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान रूप धार्मिक षट्कर्मों का उपदेश दिया। राज्य व्यवस्था की, समाज संगठन किया और मानव सभ्यता के विकास के बीज बोये। उन्हीं से भारतीय क्षत्रियों के प्राचीनतम इक्ष्वाकुवंश का प्रारभ हुआ। राजकाज के साथ उद्योग, सहयोग और

* टकसाल गली, दानाओली, ग्वालियर - 1 फोन : 3203245

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग की संगति बिठाने के कारण ऋषभदेव का इतिहास में प्रथम राजा, प्रथम मुनि, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर और प्रथम धर्म चक्रवर्ती के रूप में स्थान है। वे जिस काल में हुए, इतिहास उस अनन्त अतीत की धूल भी नहीं छू सकता। लोक को लौकिक एवं पारलौकिक उपदेश देकर उन्होंने निस्पृह, निरीह, योग मार्ग अपनाया और कैलाश पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया।

उनके पुत्र सम्राट भरत चक्रवर्ती ने सर्वप्रथम सम्पूर्ण भारत को राजनैतिक एक सूत्रता में बाँधने का प्रयत्न किया। उन्हीं के नाम से हमारे देश का नाम भारतवर्ष कहलाया और प्राचीन आर्यों का भारतवंश चला। ऋषभ के एक अन्य पुत्र का नाम द्रविड़ था जिन्हें उत्तरकालीन द्राविड़ो का पूर्वज माना जाता है। संभव है किसी विद्याधर कन्या से विवाह करके विद्याधरों के देश में जा बसे हों और उनके नेता बने हों, जिससे कालान्तर में वे द्रविड़ कहलाए। भरत के पुत्र अर्ककीर्ति से सूर्यवंश, सोमप्रभ से सोमवंश तथा एक अन्य वंशज से कुरूवंश चला, ऐसी मान्यतायें हैं।

ऋषभ द्वारा उपदेशित यह अहिंसामय सरल धर्म उस काल में सम्भवतः ऋषभ धर्म, आर्हत धर्म, मग्ग या मार्ग अथवा मुक्ति मार्ग कहलाया। ऋषभ के उपरान्त आने वाले अजितनाथ आदि विभिन्न 23 तीर्थंकरों ने इस संस्कृति का पोषण किया और उक्त सदाचार प्रधान योग धर्म का पुनः पुनः प्रचार किया।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव प्राग्वैदिक युग में हुये। दूसरे अजितनाथ से नवम् पुष्पदन्त तीर्थंकर का समय सिन्धु घाटी सभ्यता काल माना जाता है। सिन्धु घाटी के प्राचीन निवासी कृषक और व्यापारी थे। उनकी उच्च सामाजिक व्यवस्था उनके द्वारा सुनियोजित और अच्छीरीति से निर्मित नगरों से परिलक्षित होती है। वे अनेक प्रकार के बर्तन बनाते थे। सोना, चाँदी और हाथी दाँत के जेवर बनाते थे। जौ, गेहूँ और कपास की खेती होती थी। कातना और बुनना उत्तम एवं उन्नत दशा में था। मोहनजोदड़ों निवासी योग की प्रणालियों से परिचित थे। उत्खनन् में प्राप्त मुद्रा जैन योगियों की तपस्या से विशेष रूप में मिलती है। हड़प्पा में मिली मूर्ति को श्री रामचन्द्रन जैसे पुरातत्वविद् प्रथम तीर्थंकर की मूर्ति ही मानते हैं।[1] मोहनजोदड़ों और हड़प्पा संस्कृतियों से जिन प्राग्वैदिक लोगों का सम्बन्ध रहा उन्हें व्रात्य, नाग, यक्ष, राक्षस, द्रविड़ आदि कहा जाता रहा है। पं. जवाहरलाल नेहरू का मत है कि हिन्दुस्तान की सबसे पुरानी कौम, जिसका हाल हमें मालूम है, द्रविड़ है। उसकी एक अलग जबान थी। द्रविड़ दूसरी जाति वालों के साथ व्यापार आदि किया करते थे।[2] सर ज्होन मार्शल ने भी माना है कि सिन्धु सभ्यता आर्यों की वैदिक सभ्यता से बिल्कुल भिन्न थी, तथा उससे प्राचीन थी। उसका विनाश आक्रान्त आर्यों की हिंसक प्रवृत्ति के कारण हुआ, ऐसा अनुमान है। ऐसा प्रतीत होता है कि तीसरे तीर्थंकर सम्भवनाथ के समय में इस प्राचीन सभ्यता का प्रारंभ हुआ। संभवनाथ का विशिष्ट लांछन अश्व है और सिन्ध देश चिरकाल तक अपने सैन्धव अश्वों के लिये प्रख्यात् है।

'ऋषभ' शब्द का अर्थ वृषभ है और वृषभ जैन ऋषभदेव का लांछन है। सिन्धु घाटी की अनेक मुद्राओं में वृषभ युक्त कायोत्सर्ग योगियों की मूर्तियाँ अंकित हैं। ऋषभ या वृषभ का अर्थ धर्म भी है शायद इसीलिये कि लोक में धर्म सर्वप्रथम तीर्थंकर ऋषभ के रूप में प्रगट, प्रख्यात हुआ है। प्रो. प्राणनाथ विद्यालंकार न केवल सिन्धु घाटी के धर्म को जैन धर्म से सम्बंधित मानते हैं वरन् वहाँ से प्राप्त एक मुद्रा नं. 449 पर तो उन्होंने 'जिनेश्वरः' (जिन इस्सरः) शब्द भी अंकित रहा बताया है और जैन आम्नाय की 'श्री, ह्रीं, क्लीं' आदि देवियों की मान्यता भी वहाँ रही बतायी है।

वहाँ से नागफण के छत्र से युक्त योगी मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं जो सातवें तीर्थंकर सुपार्श्व की हैं। इनका लांछन स्वस्तिक है और तत्कालीन सिन्धु घाटी में स्वस्तिक एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्यन्त लोकप्रिय चिन्ह दृष्टिगोचर होता है। सड़कें और गलियाँ तक स्वस्तिकाकार मिलती हैं।

डा. हेरास के अनुसार मोहनजोदड़ों का प्राचीन नाम नन्दूर था अर्थात् मकर देश था और नन्दूर लिपि मनुष्य की सर्वप्रथम लिपि। यह सभ्यता मनुष्य की भूतल पर सर्वप्रथम सभ्यता थी। डा. हेरास इस सभ्यता को द्रविड़ीय ही मानते हैं। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि 'मकर' नवें तीर्थकर पुष्पदंत का लांछन है। प्रो. एस. श्रीकृष्ण शास्त्री का कहना है कि दिगम्बर धर्म, योग मार्ग, वृषभ आदि विभिन्न लांछनों की पूजा आदि बातों के कारण प्राचीन सिन्धु सभ्यता जैन धर्म के साथ अद्भुत सादृश्य रखती हैं। अतः वह मूलतः अनार्य अथवा कम से कम अवैदिक तो है ही।

जैन अनुश्रुति के अध्ययन से पता चलता है कि दसवें तीर्थकर शीतलनाथ के उपरान्त सर्वप्रथम ब्राह्मणों ने श्रमण परम्परा से अपना सम्बन्ध विच्छेद करके अपनी पृथक ब्राह्मण संस्कृति एवं वैदिक धर्म को जन्म दिया था। इस काल में सामाजिक और राजनैतिक संघर्ष का जो सिलसिला चला वह राम - रावण युद्ध तक अवाध गति से चलता रहा। राम कथा श्रमणों और ब्राह्मणों में समान रूप से प्रचलित होने के बावजूद आपसी मतभेद को मुखरित होने से नहीं बचा सकी। ब्राह्मणों के लिये राक्षसों के विनाश, सीता विवाह, संघर्ष, शौर्य प्रदर्शन आदि दिलचस्पी का विषय है, जबकि श्रमणों की दिलचस्पी शील, संयम, आज्ञा पालन आदि में रही है, जिससे युद्ध भूमि में भी योद्धा अहिंसा का वरण कर लेता है। हिंसा बनाम अहिंसा के चलते जीवन और जीविका में अन्तर्विरोध बढ़ा जो कालान्तर में मार्जार - मूषक की भाँति विद्वेष रखने वाला उदाहरण बन गया।

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने 'भारतीय की रूपरेखा' में इक्ष्वाकु से पाण्डवों तक हुई 95 पीढ़ियों का वर्णन किया है। उसमें एक से 40 पीढ़ी तक सतयुग, 41 से 65 पीढ़ी तक त्रेता, 66 से 95 वीं पीढ़ी तक द्वापर माना है। उनकी स्थापना के अनुसार 2950 से 2300 ई. पूर्व तक सतयुग, 2300 से 1700 ई. पूर्व तक त्रेता और 1700 से 1425 ई. पूर्व तक द्वापर रहा।[3] फिर कलियुग प्रारम्भ हुआ। त्रेता में राम और द्वापर में कृष्ण सर्वाधिक चर्चित व्यक्तितत्व रहे। कृष्ण के समय 1424 ई. पू. महाभारत युद्ध हुआ, जिसमें 283 राजाओं सहित 53 लाख 12 हजार 840 (18 अक्षोहिणी) सैनिक मारे गये।[4] तदनन्तर 56 करोड़ यदुवंश भी आपस में लड़ मरे। तब जैनों के 22 वें तीर्थकर अरिष्टनेमि नव निर्माण के लिये मैदान में उतरे।

तोरण द्वार तक पहुँचने से पूर्व उन्हें एक बाड़े में बन्द पशुओं का आर्त्तनाद सुनाई पड़ा तो उन्हें बचाने की भावना से बिना ब्याहे लौट गये। उनके उपदेश से माँसाहार त्यागने की होड़ लग गई। करोड़ों भारतीयों को निरामिषभोजी बनाने का श्रेय अरिष्टनेमि को जाता है। युद्ध में मारे गये लोगों की विधवाओं को सात्विक जीवन जीने की प्रेरणा देने, अनाथ बच्चों को संरक्षित करने, वृद्ध माता - पिताओं को सहारा देने, पराजितों का आत्मविश्वास लौटाने और विजयी लोगों का उन्माद नियंत्रित करने में द्वारिका से पुरी तक की अरिष्ट नेमि की पद यात्रायें प्रभावी रहीं। मरने पर स्वर्ग और जीतने पर राज्य भोगने वाली मानसिकता बदली एवं संहार के साधन सृजन में लगे। आर्य विचारकों ने प्राग्वैदिक दर्शन को अपनाया। उसके बाद वैदिक, अवैदिक, आर्य - अनार्य परम्पराओं ने आपस में मिलकर हिन्दुत्व का रूप लिया।

इक्ष्वाकु की 33 वीं पीढ़ी में अयोध्या नरेश हरिशन्द्र हुये। स्वप्न में उन्होंने अपना राज्य महर्षि विश्वामित्र को दे दिया और दक्षिणा के लिये अपनी रानी और राजकुमार के साथ आकर काशी के बाजार में आकर बिके। बिकने से मिलने वाली दक्षिणा लेने वाले ऋषि का हाथ नहीं काँपा। पीढी दर पीढी कही जाने वाली इस कथा को सुनकर ई.पू.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

8 वीं शताब्दी में काशी के राजकुमार पार्श्वनाथ का हृदय बैचेन हो गया। वह सोचने लगा कि कैसे ऋषि हैं जो योग्य - अयोग्य, उचित - अनुचित का भेद नहीं समझते। वह कैसा जात्याभिमानी समाज है जो सत्यवादी का सहारा बनने हेतु अन्त्यज जितना त्याग करने से डरता है? पार्श्वनाथ ने दंभ और पाखंड के खिलाफ मोर्चा खोला। तब यक्ष समर्थकों ने कमठ तापस के नेतृत्व में ऐसा माहौल खड़ा किया कि काशी से अमिनिष्क्रमण करना पड़ा। इस घटना से पूर्व काशी श्रमण संस्कृति का केन्द्र रहा है।

पार्श्वनाथ का समय अनार्य क्षेत्रों में घूमने, नागाओं से मिलने, पिछड़ी जातियों का विश्वास जीतने में लगा। काश्मीर से कन्याकुमारी तक और कलिङ्ग से लेकर कच्छ तक उनकी यात्रा रही। बंगाल, बिहार और उडीसा में उनका प्रभाव रहा। सराक, सद्मोम, रंगिया आदि जातियाँ हाल तक उन्हें लाखों की संख्या में अपना कुल देवता मानती रही हैं। कहा जाता है कि ते तिब्बत भी गए। श्रमण नेता के रूप में उनके इस प्रवास का व्यापक असर हुआ। इस कारण श्रमण संस्कृति का विस्तार भारत से अधिक भारत से बाहर देखा गया। जिसमें सारा एशिया ही मध्यपूर्व और भारत को छोड़कर इस क्षेत्र में आ गया। अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और पूर्वीद्वीप समूह के प्राचीन धर्म भी श्रमण धर्म से बहुत प्रभावित पाये जाते हैं।

पार्श्वनाथ के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के बारे में अपेक्षित शोध नहीं हुआ है, लेकिन बुद्ध और महावीर से पूर्व उनका प्रभाव क्षेत्र कितना फैल गया था, यह बौद्ध साहित्य से जाना जा सकता है। इसमें जैन धर्म के एक ऐसे गौरवमय साक्ष्य की ओर संकेत किया है जिसका पता स्वयं जैन धर्मानुयाययों को नहीं है। पेड़, पौधे, पशु, पक्षी, देवी - देवता सहित जितने जीवन के तल हैं, उन सभी को संवेदना भाव संक्रान्त करने वाले 24 वें तीर्थंकर श्रमण महावीर भगवान हुये। बहु - पत्नी प्रथा, दास - दासियों की खरीद बिक्री, पशु - पक्षियों के प्रति होने वाली क्रूरता तथा धार्मिक क्रिया काण्डों के विरूद्ध जनमत निर्माण करने हेतु उन्होंने क्या नहीं किया? इस युग के महापुरुषों में सर्वाधिक उल्लेखनीय स्थान बुद्ध के समकालीन वर्धमान महावीर को था। स्वयं बुद्ध उनके तेज से प्रभावित थे और उनका आदर करते थे। श्रमण परम्परा में उसी धर्म का पुनः उद्धार, प्रचार एवं संस्कार करने के लिये अंतिम तीर्थंकर के रूप में महावीर का जन्म हुआ था। उन्होंने स्व - पुरुषार्थ द्वारा अपनी आत्मा को चरम शिखर पर पहुँचा दिया। जैन धर्म का जो कुछ वर्तमान रूप है तथा उसके गत ढाई सहस्र वर्षों का जो कुछ इतिहास एवं संस्कृति है, उस सबका सर्वाधिक श्रेय महावीर को ही है।

बैर के स्थान पर मित्रता करना, अमंगल के स्थान पर मंगल करना, अशान्ति के स्थान पर शान्ति स्थापित करना, विषमता के स्थान पर समता करना और संहार के स्थान पर सृजन का वातावरण बनाना ही जैनों का इष्ट रहा है जो परम्परागम्य से अधिक पराक्रमगम्य है, जो शास्त्रगम्य से अधिक सदाचार गम्य है, संयम और सहिष्णुता गम्य है, जिसमें हिंसा की कोई किंचित मात्र स्वीकृति नहीं है। जिस प्रकार परिवार प्रेम के बन्धन से बंधा है, उसी तरह तथा कथित सम्यसमाज में राष्ट्र के नाम से जाना जाने वाला सम्य समाज भी इसी बन्धन से बंधा हुआ है। बात सिर्फ इतनी ही है कि वे अहिंसा के सिद्धान्त को स्वीकार करें। वह तभी स्वीकार कर पाएगें, जब हमारी निष्ठा बोलेगी।

सन्दर्भ :

1. जैन साहित्य का इतिहास, सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृ. 53 - 57

2. पिता के पत्र पुत्री के नाम, जवाहरलाल नेहरू, पृ. 49

3. भारतीय श्रमण संस्कृति, जवाहिरलाल जैन, पृ. 8

4. मन्मथ भाग - 1, गणपति शंकर, पृ. 409

प्राप्त : 3.9.2000

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्ष - 14, अंक - 4, 2002, 81 - 84

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

जैन परम्परा से जुड़ी माया सभ्यता

□ डा. जे. डी. जैन *

उत्तरी अमेरिका में मैक्सिको देश के युकटन उपमहाद्वीप, बेलीज, गौतेमाला, होंडुरास व एल - सैल्वेडोर - देशों में माया सभ्यता का उद्भव व विकास हुआ। यहां के लोगों को भारतीय कहा जाता था क्योंकि भारत की खोज में निकले कोलम्बस ने गलती से पश्चिम की तरफ पहुंचकर इन देशों को भारत का भाग समझकर इन्हें भारतीय घोषित कर दिया था। ईसा के 1000 से 1500 वर्ष पहले से लोग यहां सर्वप्रथम नदियों के किनारे बसने लगे थे। ज्यों - ज्यों आबादी बढ़ी, जगह की कमी पड़ी तो ये लोग अपने छोटे - छोटे कुनबों सहित अन्यत्र जगह - जगह बसने लगे। ये लोग अवश्य ही धार्मिक प्रवृत्ति के रहे होंगे क्योंकि इन्होंने अपनी - अपनी बस्तियों में मंदिर बनवाने आरंभ कर दिये। इस प्रकार उपरोक्त वर्णित देश में सैकड़ों मंदिरों की स्थापना हो गई। इन मंदिरों की विशेषता यह रही कि प्रत्येक क्षेत्र में एक साथ 2,3,4 या उससे अधिक मंदिर पाये गये हैं और प्राय: सभी जगहों पर एक कुंआ अवश्य है। ऐसी श्रृंखलाबद्ध मंदिरों की कतारों को देखते हुये ऐसा लगता है कि इन मंदिरों की स्थापना के समय अपने इष्ट देवी - देवता के विभिन्न अवसर मनाने के लिए यह मंदिर / भवन बनाते हों। इनकी ऐसी परम्परा की संभावना को देखते हुये ऐसा लगता है जैसे माया सभ्यता पर जैन धर्म का अवश्य ही प्रभाव रहा होगा। क्योंकि जैन धर्मावलम्बी अपने तीर्थंकरों के पंचकल्याणक उत्सव जन्म, तप, ज्ञान, मोक्ष कल्याणक आदि उत्सव मनाने के लिए पाण्डुकशिला आदि का निर्माण करते हैं।

इन मंदिरों का निर्माण काल सन् 700 से 1200 ई. के मध्य का माना गया है। अगर हम संपूर्ण विश्व में जहां - जहां भी पत्थर के विशाल मंदिर बने हैं, जैसे इण्डोनेशिया में जावा का बोरोबुदुर मंदिर, कम्बोडिया में अंगकोर के मंदिर, भारत में खजुराहो के मंदिर इत्यादि का अध्ययन करें, तो पायेंगे कि वे सब मंदिर इसी अवधि के दौरान बने हैं।

चार माया स्थलों - तुलुम, सोलीमन, तन्खहा एवम् इक्सेल्हा में, तुलुम तो जैसे माया सभ्यता की पैतृक सम्पत्ति ही है। ये सब कैरेबियन समुद्रतट पर बसे हुए हैं। पश्चिम में चिचेन इट्रजा, उक्समहल इत्यादि हैं। वास्तु शिल्पकला में यद्यपि तुलुम चिचेन इट्रजा इत्यादि का मुकाबला नहीं कर सकता। परन्तु पूर्वी समुद्रतट पर यह एक महत्वपूर्ण माया स्थल है। यहां की करीब 60 इमारतों में टोल्टेक स्थापत्य कला का प्रभाव नजर आता है। एक पिरेमिड मंदिर तो भित्ति चित्रों से सुशोभित है।

वीराक्रुज एवं तबस्को प्रान्तों में ओलेमेक निर्माण शैली में बने मूर्तियों के धड़ मिले हैं जो 1200 से 900 ई. पूर्व बनाये गये थे। एक धड़ तो 11 फुट ऊंचा है। पुरातत्वज्ञ तो इन्हें वहां के प्रमुख शासकों के प्रारूपी धड़ मानते हैं। इन धड़ों के चित्रों के अनुसार मुझे ऐसा लगा कि इनके आकार इत्यादि कम्बोडिया में अंगकोर के प्रसिद्ध बायों मंदिर के शिखरों पर बने धड़ों के समान हैं। इनके अलावा जो अन्य मूर्तियां पायी गई हैं वो पद्मासन हैं और सामने देखती हुयी है। ऐसा लगता है जैसे ये प्रतिमायें जीवन्त हों।

समय के साथ इन इमारतों की बनावट इत्यादि में बदलाव आते गये, उदाहरण के लिये मंदिर के पिछले भाग में राजा के महल भी बनने लगे, मंदिर के सामने ऊंचे चबूतरे बनने लगे ताकि लोग धार्मिक उत्सव देख सकें। धीरे - धीरे मंदिर परिसरों में ही

* ए - 2, श्रीजी नगर, दुर्गापुरा, जयपुर (राज.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामाजिक, सांस्कृतिक व न्यायिक वाद - विवाद के फैसले भी होने लग गए।

स्पेन देश के आक्रमण के बाद, स्पेनिश सिपाहियों ने इन मंदिरों को भारी क्षति पहुंचाई और समस्त मूर्तियां तोड़ डाली। इन सिपाहियों के साथ आने वाले मिसनरियों द्वारा अपने राजा को लिखे पत्र के अनुसार इन सिपाहियों ने महिलाओं के हाथ, पाव, स्तन काट कर उन्हें झीलों में फेंककर बहुत आनन्द मनाया बताते हैं। वहां के नागरिक देश छोड़कर भाग निकले और इसके बाद तो माया शासन कभी भी एकजुट नहीं हो पाया। शासक भी अपने पड़ोसी देशों के साथ गृहयुद्ध में फंस गये। इस प्रकार ईसा की 13 वीं शताब्दी तक माया सभ्यता का हमेशा के लिये अंत हो गया। इतिहासज्ञों के अनुसार यहां के शासक बहुत निर्दयी थे, यह निष्कर्ष उन्होंने इन खण्डहर मंदिरों में बने भित्ति चित्रों व दीवारों पर उकेरे गये दृश्यों के आधार पर निकाला। भू - गर्भ से ऐसे औजार व उपकरण प्राप्त हुये हैं जिनके द्वारा बच्चों व युवा पुरुषों के सिरों को शिकंजे में दबाकर एक - एक बूंद खून निकाल कर जानवरों को पिलाते थे। परन्तु मैं उपरोक्त निष्कर्ष से सहमत नहीं हूँ। भित्तिचित्रों पर तो नर्क इत्यादि का चित्रण जैन मंदिरों में आमतौर पर पाया जाता है। और यहां भी संभवतया नर्कों का चित्रण ही हो। जो उपकरण प्राप्त हुए हैं वो अपराधियों को सजा देने के लिए हों। अत: वहां के शासकों को निर्दयी घोषित करना न्याय संगत नहीं लगता, खासतौर पर उन शासकों के लिए जिन्होंने इतने मंदिरों का निर्माण कराया है। कई जगहों पर वेधशालायें भी मिली हैं जिनसे पता चला है कि ये शासक बहुत अच्छे गणितज्ञ थे और उन्हें ज्योतिष विद्या का अच्छा ज्ञान था। नेशनल ज्योग्राफिक पत्रिकाओं में छपे लेखों में वर्णन व खण्डहर मंदिरों के चित्रों को देखकर मुझे ऐसा महसूस हुआ कि हो न हो इस माया सभ्यता पर जैन परम्परा का अवश्य प्रभाव रहा होगा। अत: इस संभावना की पुष्टि करने के लिए मैं लॉस एन्जलिस (अमेरिका) में दिसम्बर 1999 से फरवरी 2001 तक के प्रवास के दौरान 1 नवम्बर 2000 को 6 घंटे की उड़ान के बाद मैक्सिको के युकटन उपमहाद्वीप के कैन्कुन हवाई अड्डे पर पहुंचा।

कैन्कुन मैक्सिको का बहुत लोकप्रिय पर्यटन स्थल है। यह स्थान वर्षभर गर्म मौसम, सदैव समुद्री हवाओं से आकर्षित सूर्यास्त दृश्यों के लिए बहुत प्रसिद्ध है। गोताखारों, नाविकों व प्रमुख सभा, सम्मेलनों के लिए उचित स्थान है। युकटन उपमहाद्वीप के माया सभ्यता को अपनाये कैरेबियान समुद्री तट पर बसे इक्सकारेत, इक्सेल्हा, तलुम एवम् पश्चिम में स्थित चिचेन इट्जा, कोक्हा व उक्समहल इत्यादि के भ्रमण के लिए ठहरने का उचित स्थान है। चूंकि मेरे पास केवल दो दिन का ही समय था इसलिए मैंने केवल चिचेन इट्जा ही देखने का मानस बनाया। 2 नवम्बर को कैकुन से करीब 120 कि.मी. पश्चिम में स्थित इट्जा बस के द्वारा पहुंचा।

चिचेन इट्जा की इमारते टोल्टेक क्षेत्रीय शैली की प्रतीक है। यहाँ एक सबसे ऊंचा पिरेमिड मंदिर है (चित्र - 1), जिसके चारों और सीढ़ियां बनी हैं और करीब 120 फुट की ऊंचाई पर एक मंदिर है जिसके चारों ओर परिक्रमा लगाने को गैलरी है। इस मंदिर की बनावट मुझे जैन शास्त्रों में वर्णित पांडुकशिला जैसी लगी जिसका उपयोग पंचकल्याणक महोत्सवों में भगवान के जन्म कल्याणक मनाने के लिए किया जाता है। इस मंदिर के उत्तरी भाग में 2 और पिरेमिड मंदिर हैं (चित्र - 2) जिनकी ऊंचाई क्रमश: कम होती गई है। एक अन्य मंदिर की एक पश्चिमी दीवार पर 2 मूर्तियां बनी हैं जिन पर नाग का फण है। (चित्र - 3) ये ही एक मात्र स्थान है जो इस बात की संभावना प्रगट करता है कि माया सभ्यता जैन परम्परा से जुड़ी हो। इस मंदिर के पास ही सैकड़ों खंबे दिखाई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देते रहे हैं वे किसी धर्मशाला के खण्डहर हैं जो शायद साधु, साध्वियों, यात्रियों के लिए बनाई गई हो। एक चित्र के बारे में दर्शाए गए मंदिर शायद भगवान के तप कल्याणक उत्सवों के दौरान संध्या में होने वाले प्रवचन व सांस्कृतिक कार्यक्रमों के लिए हों। (चित्र - 4) यहां एक विशाल कुंआ भी है। जैन धर्मावलम्बियों के लिए कुंए की आवश्यकता बताना जरूरी नहीं है। हाल ही में की गई खोज में गोतेमाला देश में एक ऐसे पिरेमिड मंदिर के अवशेष मिले हैं जिसके चारों और 11 कोर्ट यार्ड बने हैं। इस खोज से ऐसा लगता है शायद यहां कोई समवशरण की रचना की गई हो। इसके पास ही राजा का शानदार महल मिला है जिसकी ऊंचाई करीब 179 फुट है। पुरातत्वज्ञों का मानना है कि इस खोज के बाद शायद माया सभ्यता का इतिहास बदल जाए।

आशा है जैन समाज के कुछ अनुभवी व विद्वान लोग वहां जाकर इन खण्डहर मंदिरों का अवलोकन करें ताकि जैन धर्म की प्राचीनता के बारे में अधिक प्रमाण प्राप्त हो सकें।

चित्र - 1

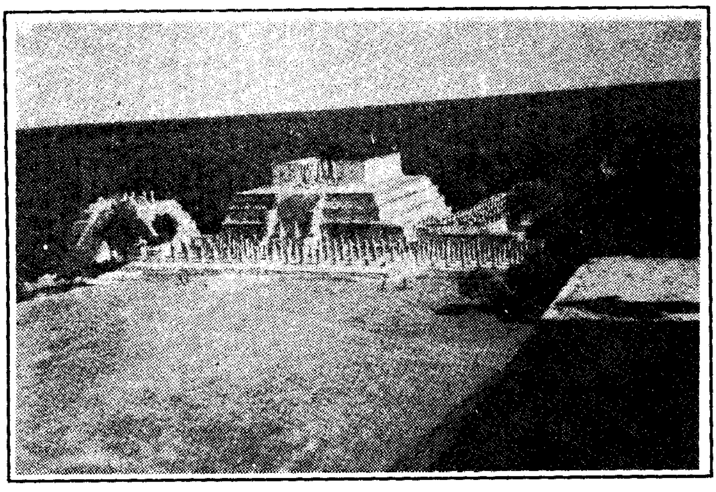

चित्र - 2

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

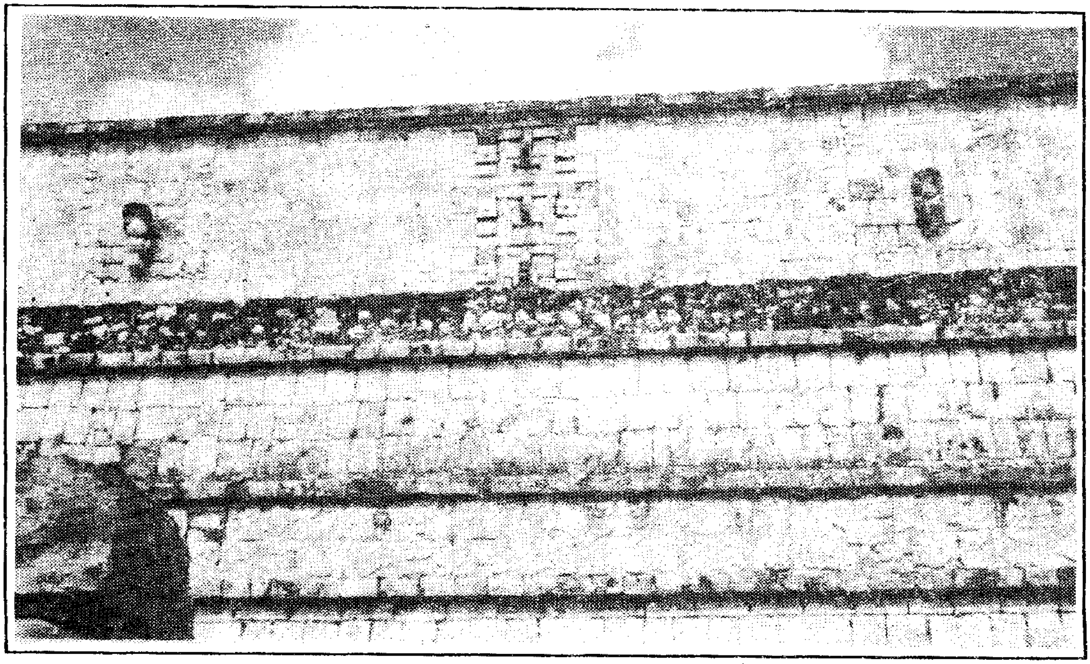

चित्र - 3

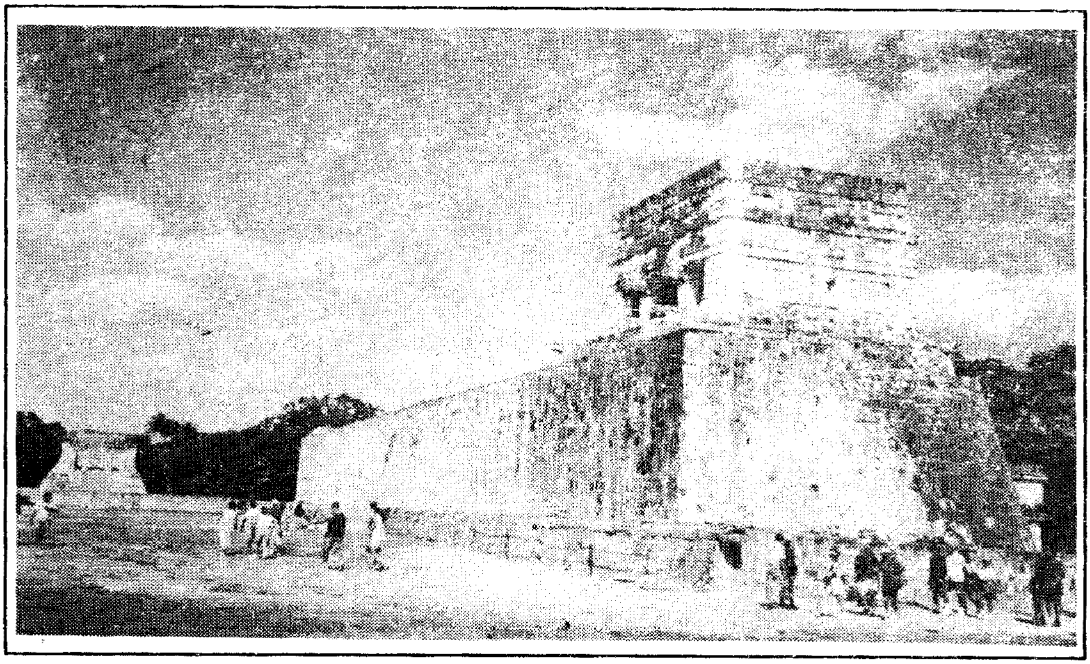

चित्र - 4

प्राप्त 07.04.2001

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

शाकाहार और स्वास्थ्य रक्षा पर
भगवान महावीर के उपदेश

□ आर्यिका ऋद्धिश्री*

भोजन का उद्देश्य मात्र भूख शांत करना ही नहीं परन्तु स्वाद का आनंद लेने के साथ-साथ शारीरिक स्वास्थ्य बनाये रखना तथा मानसिक एवं चारित्रिक विकास करना भी है। भोजन का हमारे आचार-विचार-व्यवहार, चिंतन-मनन, स्वभाव आदि से गहरा संबंध है। इसीलिये भगवान महावीर स्वामी ने भोजन के संबंध में कहा है कि भोजन कब, क्यों, कितना, कैसा और कहाँ करना चाहिये और कब, क्यों कितना, कैसा और कहाँ नहीं करना चाहिये? भोजन कैसे वातावरण में बनाना, खाना, खिलाना चाहिये? भोजन के स्रोत कितने पवित्र, शुद्ध, सात्विक, अहिंसक, नैतिक होने चाहिये आदि विषयों पर व्याख्या की थी।

हियाहारा मियाहारा अप्पाहारा ये जे नरा।
न ते विज्जा तिगच्छंति अप्पाणं ते तिगिच्छग॥

अर्थात् जो हितकारी, परिमित तथा कम बार आहार करते हैं उन्हें चिकित्सक की आवश्यकता नहीं होती है। वे स्वयं अपने चिकित्सक होते हैं।

यही बात आज के आहार विशेषज्ञ बताते हैं कि अधिकांश शारीरिक रोगों का कारण भोजन संबंधी विसंगतियाँ. असावधानी, लापरवाही है जिसका प्रमुख कारण भोजन के बारे में अज्ञानता, स्वादलोलुपता, सम्यग्चिंतन का अभाव, स्वविवेक की कमी, अनैतिक आचरण, संकीर्ण स्वार्थी दृष्टिकोण आदि हैं।

हमारे ऋषि, मनीषी, तीर्थंकरों ने अपने सत्यज्ञान एवं अनुभव के आधार पर मानव की जीवनशैली को प्रकृति के अनुरूप जिस सहज-सरल रूप से ढालने का निर्देश-मार्गदर्शन दिया, उसके पालन से जनसाधारण का स्वास्थ्य अच्छा रह सकता है। जैसे मौसम के बदलाव से जुड़े हमारे त्यौहार, उपासना, आराधना एवं साधना पद्धति, खाने में संयम, व्रत, एकाशन, उपवास, रात्रि भोजन का निषेध, रहन-सहन, खान-पान, वस्त्र-आभूषण, रीति-रिवाज, सुख-दुःख के प्रसंगों पर सामूहिक भागीदारी द्वारा आयोजित होने वाले समारोहों के पीछे स्वास्थ्य विज्ञान का पूर्ण आधार था परन्तु आज ये सब बातें प्रायः गौण होती जा रही हैं और पश्चिमी सभ्यता का अंधानुकरण कर आधुनिकता, फैशन, बाह्य दिखावे की आड़ में बिना सोचे समझे, सम्यक्चिंतन मनन विवेक को खोकर अभक्ष्य, अहितकर, दुपाच्य, असंतुलित, बेमौसम के अनुरूप भोजन करते जा रहे हैं जिसके दुष्परिणाम स्वरूप अनेकों बीमारियाँ, विकृतियाँ, समस्याएँ प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं, जो चिंतन, चिंता का विषय है।

स्वास्थ्य जो तन, मन, आत्मा के एक संतुलित, अनुशासित, समन्वय का प्रतीक है, कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसको बाजार से खरीदा जा सके, उधार लिया जा सके या चुराया जा सके। स्वस्थ रहना भी एक कला है। भोजन उसका महत्वपूर्ण पक्ष है। अतः हमें अच्छे स्वास्थ्य के लिये चिंतन मनन करना चाहिये कि हमारे भोजन का उद्देश्य क्या है? हम भोजन क्यों करते हैं? भोजन कैसा करना चाहिये? भोजन कब, क्यों, कितना, कैसे वातावरण में करना चाहिये? भोजन कैसे और किन भावों के साथ बनाया, खिलाया जाना चाहिये? भोजन हमारी शारीरिक पाचन प्रणाली के अनुकूल है या नहीं? भोजन में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्या - क्या हानिकारक तत्व है? इत्यादि बातों का स्वस्थ स्वास्थ्य के लिये चिंतन परिपालन आवश्यक है। जिस प्रकार विष की एक बूँद मन भर दूध को विषाक्त, अपेय बना देती है, एक चिनगारी लाखों टन घास को जला देती है, ठीक उसी प्रकार भोजन में उपर्युक्त तथ्यों का जितना ज्यादा विवेक, चिंतन, परिपालना होगी, भोजन उतना ही अच्छा, स्वास्थ्यवर्द्धक एवं निर्दोष होगा इसके विपरीत उपर्युक्त बातों की जितनी उपेक्षा, लापरवाही होगी, उतना ही भोजन हानिकारक एवं दोषपूर्ण होगा।

आज बहुत ही दुर्भाग्य, खेद का का विषय है कि टी.वी. और अन्य संचार माध्यमों के द्वारा उपभोक्ताओं को आकर्षित करने वाले मायावी, भ्रामक, हानिकारक पदार्थों का खुले आम प्रचार - प्रसार हो रहा है। कृषि मंत्रालय मांसाहार को बढ़ावा देने के लिये विभिन्न सुविधायें उपलब्ध कराता रहा है। शिक्षा मंत्रालय मांसाहार के दुष्प्रभावों से विद्यार्थियों को अवगत कराने की जिम्मेदारी से दूर भाग रहा है। अमेरिका आदि देशों में मांस, बीडी, सिगरेट, तम्बाकू, गुटखा, शराब आदि के विज्ञापनों पर प्रतिबन्ध है लेकिन हमारा संचार मंत्रालय इन सबका प्रचार - प्रसार, विज्ञापन कर रहा है जिसके परिणामस्वरूप भारत में रोग एवं रोगियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। मांसाहार, तामसिक आहार स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक, आर्थिक दृष्टि से महंगा, आध्यात्मिक दृष्टि से नीच गति में ले जाने वाला, मानवीय गुणों का नाश करने वाला, पर्यावरण की दृष्टि से अन्याय का पोषण करने वाला है। अतः जो मांसाहार, तामसिक आहार करते हैं, करवाते हैं, अथवा करने वालों को अच्छा समझते हैं वे सभी असंस्कारित, अमानवीय, रसना इन्द्रिय के गुलाम, स्वादलोलुप, पराधीन, परावलम्बी, भ्रमित, असंयमी, निकृष्ट, क्रूर हैं।

मनुष्य जन्म से शाकाहारी, माँस उसे अनुकूल नहीं।
पशु भी मानव जैसे प्राणी, वे मेवा फल फूल नहीं॥

इस छोटी सी टिप्पणी के माध्यम से आज की भोगवादी, मायावी, भ्रमित पीढ़ी को यह बताना चाहती हूँ कि मानव जीवन के प्रत्येक कदम के साथ शाकाहार होना चाहिये। यहाँ शाकाहार से मेरा तात्पर्य सिर्फ माँस के त्याग से ही नहीं है बल्कि अपने शौकों, मनोरंजनों को पूर्ण करने हेतु हिंसा न करना भी शाकाहार है। शाकाहार को स्पष्ट करने हेतु मेरी निम्न स्वरचित परिभाषा दृष्टव्य है -

'शाकाहार मात्र शाक - आहार नहीं, शाकाहार एक संस्कृति या सभ्यता मात्र नहीं, शाकाहार केवल प्रकृति का एक वरदान नहीं, शाकाहार सिर्फ एक लेख या कविता नहीं, शाकाहार है जीओ और जीने दो की विचारधारा, शाकाहार है करुणा, दया, स्नेह, अहिंसा, सत्य का संगम, शाकाहार है पुष्प के मध्य सुरभि, शाकाहार है एक आत्मीयता, नैतिकता, संवेदनशीलता, सहिष्णुता, शाकाहार है एक सरल, शुद्ध, पवित्र संपूर्ण जीवनशैली।'

शाकाहार जिनेन्द्र देव की असीम अनुकम्पा का परिणाम है जो सभी प्राणियों के लिये अमूल्य रत्न के समान है। अतः शाकाहार की उपयोगिता स्वीकारते हुए स्वयं शाकाहारी बनें, दूसरों को बनायें। यदि हम ऐसा करने में सफलता प्राप्त करते हैं तो निश्चित ही महावीर की जनकल्याणी, अमृतवाणी के प्रति हमारी सच्ची विनयांजलि होगी।

※ संघस्थ - **वैज्ञानिक आचार्य कनकनंदीजी महाराज**
सम्पर्क सूत्र - डॉ. नारायणलाल कच्छारा,
55 रवीन्द्र नगर, उदयपुर - 313 003 (राज.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

ध्रुव क्षेत्र अंटार्कटिका में शाकोत्पादन एवं शाकाहार

□ मनोजकुमार जैन 'निर्लिप्त' *

दुनिया के उन मुकामों/क्षेत्रों, जहाँ कि शाक-पात कुछ होता ही नहीं, के लोग यदि मांसाहार न करें तो क्या खायें? इस प्रकार के प्रश्न प्राय: लोगों द्वारा किये ही जाते रहते हैं. ऐसे प्रश्नों को आज के वैज्ञानिकों ने मात्र कुतर्कपूर्ण अथवा अनुचित, आधारहीन/बेबुनियाद प्रमाणित किया है।

एक दशक पूर्व, देश के समाचार पत्रों में अग्रणी 'नवभारत टाइम्स' में प्रकाशित यह समाचार आज भी महत्वपूर्ण एवं हर्षप्रद है कि दक्षिण ध्रुव क्षेत्र - 'अंटार्कटिका' में वैज्ञानिकों ने ही सब्जियाँ एवं फल उगाने में सफलता प्राप्त की है। इतना ही नहीं, उस अंटार्कटिका में पहुँचने वाले भारतीय रक्षा अनुसंधान प्रयोगशाला के वैज्ञानिक दल ने वहाँ उन ताजी सब्जियों एवं फलों का आहार भी किया है।

दैनिक 'नवभारत टाइम्स (लखनऊ) के 1 जनवरी, 1992 के अंक में प्रकाशित उक्त वैज्ञानिक दल के साथ अंटार्कटिका जाने वाले विशेष सम्वाददाता श्री गोविन्द राजू की रिपोर्ट 'तूफानी हवाओं के बीच अंटार्कटिका पहुँचे', इस सन्दर्भ में अवश्य ही मननीय है। रिपोर्ट के अग्रोद्धृत बिन्दुओं पर ध्यान देना हमारी शंकाओं, जैसे विकट ठंडे देशों में शाकाहार कैसे संभव? का सहज समाधान है एवं उसको सर्वत्र एवं पूर्णत: अपनाये जाने का श्रेष्ठ आह्वान है। प्रस्तुत है उस रिपोर्ट के इस दिशा में मननीय, प्रमुख अंश -

''पृथ्वी के सातवें महाद्वीप अंटार्कटिका की शिरमाचर पहाड़ियाँ उस शाम 'भारत माता की जय' के जोशीले नारों से गूँज उठी थी और हिम के उस बियाबान में दूर-दूर तक बिखर गई थी उन नारों की अनुगूँज। अवसर था ग्यारहवें भारतीय अंटार्कटिका अभियान दल के अंटार्कटिका स्थित मैत्री केन्द्र में पहुँचने का।

27 दिन की कष्टप्रद समुद्री यात्रा पूरी करके दल सोमवार 23 दिसम्बर को अंटार्कटिका पहुँचा! जैसे ही ग्यारहवें दल के नेता डॉ. शरदीन्दु मुखर्जी व उनके कुछ साथियों ने 'मैत्री' की धरती पर पाँव रखा, दसवें दल के नेता ए. के. हंजूरा व उनके साथियों ने उन्हें सर आँखों पर बैठा लिया।

अंटार्कटिका के खतरनाक मौसम, अकेलेपन, भीषण ठण्ड व प्रतिकूल जीवन परिस्थितियों के बावजूद भारत से हजारों किलोमीटर दूर दक्षिण गोलार्द्ध के इस छोटे से भारत में मिलन समारोह के दौरान हुए जलपान में सर्वाधिक हैरान करने वाली चीज थी - अंटार्कटिका में उगी हुई ताजा सब्जियाँ - खीरे, टमाटर व हरी मिर्च। रक्षा अनुसंधान प्रयोगशाला के वैज्ञानिकों ने अपने अथक परिश्रम से अंटार्कटिका में सब्जियाँ उगाने में सफलता हासिल की है।

आगे लिखते हैं - उस (अंटार्कटिका में सब्जियाँ उगने) की दिशा में अभी परीक्षण जारी है। कृषि-उत्पादन की इस सफलता के बावजूद अंटार्कटिका में प्रकृति अब भी मनुष्य के लिये सबसे बडी बाधा है।''

उक्त समाचार निश्चित ही इस तथ्य का बोधक है कि यदि मानव चाहे तो प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों में भी मात्र अपने रहने की ही नहीं, अपितु अच्छा एवं शाकाहारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खान - पान की भी सुव्यवस्था कर सकता है।

शाकाहार सदा, सर्वथा ही अच्छा है, कारण कि आज के विविध वैज्ञानिक अनुसंधानों में भी जहाँ मांसाहार को विविध रोगों, यहाँ तक कि कैंसर आदि जैसे भयंकर रोगों का जनक बतलाया गया है, वहीं शाकाहार को उन रोगों से बचाव ही का कारण नहीं, अपितु भयंकर रोगों की चिकित्सार्थ भी श्रेष्ठ पाया गया है।

यूँ तो ध्रुव क्षेत्रों की सर्वाधिक प्रतिकूल परिस्थितियों से बहुधा जन - सामान्य न्यूनाधिक परिचित है ही, यदि पत्रकार श्री गोविन्द राजू ही की इन पंक्तियों को भी पढ़ लिया जाए, तो श्रेष्ठ रहेगा।

''यों तो इन दिनों अंटार्कटिका में पूरे 24 घंटे दिन ही रहता है। फिर भी बादलों और घने कोहरे के कारण अधिक दूरी तक देख सकना संभव नहीं होता। तेज हवाऐं अलग बाधा पैदा करती हैं। चारों ओर एक - सा हिम - वियाबान होने के कारण हेलीकाप्टर चालकों के लिए मार्ग - निर्धारण में बहुत कठिनाईयाँ होती हैं। जरा सी चूक होने पर भटक जाने की संभावनाऐं होती हैं। लेकिन हमारी वायुसेना व नौसेना के जांबाज ऐसी स्थितियों में भी अंटार्कटिका में पूरी कुशलता से कार्य करते हैं।''

यथार्थ में, ''आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है'', यही तर्क उक्त ध्रुव - क्षेत्र में शाकोत्पादन, शाकाहार दर्शाने वाली रिपोर्ट पर लागू होने योग्य है। शाकाहार की आवश्यकता या मांसाहार - त्याग की आवश्यकता क्यों है? इस प्रश्न के प्रबल उत्तर कई बिन्दुओं पर केन्द्रित हैं, यथा -

(1) मानव की शारीरिक संरचना मांसाहार के अनुकूल नहीं।

(2) मांसाहार पूर्ण आहार नहीं, जब कि शाकाहार पूर्ण आहार है, यही कारण है कि मांसाहारी को 'शाकाहार' करना ही पड़ता है, जब कि शाकाहारी को 'मांसाहार' करना आवश्यक नहीं।

(3) मांसाहार मानवोचित नहीं तथा मानव के सद्गुण, मानवीयतापरक गुण - 'दया' के सर्वथा प्रतिकूल है।

(4) मांसाहार कई रोगों, जघन्यतम रोगों का जनक है।

(5) जिन पशु आदि का मांस मांसाहारी जन खाते हैं, वे पशु प्रायः शाकाहारी ही होते हैं, जो 'शाकाहार ही में शक्ति का स्रोत है' - तथ्य के प्रबल प्रमाण हैं।

यद्यपि वैज्ञानिकों ने विकटतम ठण्डे क्षेत्रों तक में शाकाहार - क्रान्ति का सूत्रपात कर दिया है, किन्तु प्रतीत होता है कि अधिकांश जनमानस उस सूत्रपात का अनुमोदक अभी है नहीं, क्योंकि यदि वह जनमानस 'शाकाहार' के समर्थन में सही अर्थों में होता तो, अवश्य ही, अपनी शाकाहार - प्रवृत्ति एवं मात्र शाकाहारानुकूल शारीरिक संरचनादि के बावजूद मांसाहार में लिप्त हुआ एवं उस लिप्तता से सर्वथा छुटकारा न पा लेने वाला न दिखने में आता। यह कुप्रवृत्ति निश्चित ही अज्ञानतादि एवं जिह्वा - लोलुपतादिवश सदियों से, युगों में दृष्टव्य हुई है एवं आज भी हो रही है।

समग्र जनसमुदाय को यह तथ्य जान लेना चाहिए कि इस तथाकथित विश्वलोक के समस्त देशों में, अर्थात् विदेशी राष्ट्रो में, जहां मांसाहार का प्रचलन था, अब तेजी से शाकाहार अपनाया जा रहा है। यही कारण है कि आज विदेशों में लगातार शाकाहारी रेस्तरां, होटल आदि सब अधिक से अधिक संख्या में खुलते जा रहे हैं।

किन्तु हम भारतीय लोगों में से पूर्वतः अधिकांश शाकाहारी होते हुए भी आज मांसाहारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो गए हैं एवं होते जा रहे हैं, यह एक अत्यन्त ही विडम्बनापूर्ण एवं चिन्तनीय प्रसंग है। जहां तक मुस्लिम भाईयों का प्रश्न है, उन्हीं के समुदाय के लन्दन मस्जिद के इमाम मौलाना मसेरी ने अपनी पुस्तक ''इस्लामिक कन्सर्न अबाउट एनिमल्स' (ISLAMIC CONCERN ABOUT ANIMALS) में जानवरों पर होने वाले जुल्मों पर गहरा अफसोस जाहिर करते हुए, प्रकारान्तर से सदा सर्वदा पूर्ण शाकाहार ही का आह्वान किया है। आज अनेकों मुस्लिम भाई शाकाहारी विद्यमान भी हैं।

पश्चिमी जगत के प्रसिद्ध नाटककार जार्ज बर्नार्ड शॉ मांसाहार के विरोध में स्पष्ट कहा करते थे - 'मेरा पेट कोई क्रबिस्तान नहीं, जो इसमें मुर्दों अर्थात् मृत पशुओं के मांसादि को स्थान दूँ। यहां तक कि बीमार पड़ जाने पर डाक्टरों द्वारा बार-बार आग्रह किए जाने पर भी उन्होंने मांसाहार कतई नहीं किया और दैवयोग से पूर्ण स्वस्थ भी हो गए। अन्य अनेकों प्रसिद्ध विदेशी, जो दृढ़ शाकाहार - परिपालक थे, में प्रमुख हुए हैं - गणितज्ञ पाइथागोरस, वैज्ञानिक आइजक न्यूटन, डा. एनी बिसेण्ट, वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्सटाइन, दार्शनिक टॉलस्टॉय, सुकरात एवं अन्य भी अनेक।

जहां तक ईसाई धर्म ग्रन्थों में शाकाहार आह्वान का प्रश्न है, उदाहरण के लिए - बाइबिल में सृष्टि के प्रथम स्त्री - पुरुष आदम और ईव को 'गॉड फादर' की ओर से निर्देश दिया गया है - ''देखो, मैंने, तुम्हें प्रत्येक पौधा बीज उत्पन्न करने वाला और वृक्ष फल देने वाला दिया है। ये ही तुम्हारे लिए - आहार होंगे।''

अपने देश के विलक्षण स्वन्त्रता - संग्रामी राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की शाकाहार परिपालना से सभी भारतीय परिचित हैं, जिनकी शाकाहार - विचारधारा की मूल 'अहिंसा - नीति' ने अंग्रेजों की दासता से देश को स्वतन्त्रता दिलवाने में अह्म भूमिका निभाई थी। इस विलक्षण युद्धास्त्र अहिंसा की शक्ति - सामर्थ्य पर आज विश्व के अनेकों मनीषी शोध कर चुके हैं एवं कर रहे हैं।

जॉर्ज बर्नार्ड शॉ ही की भाँति, गांधीजी का पुत्र भी रोगग्रस्त हुआ एवं डाक्टरों ने उसको मांसाहार कराए जाने - मांसाहारी सूप पिलाए जाने का दृढ़ निर्देश, उसकी जीवन - रक्षार्थ दिया, किन्तु अन्तरंग से शाकाहार का पालन करने - कराने में दृढ़ आस्थारत गांधीजी ने ऐसा तनिक भी नहीं किया एवं पश्चात् अपने पुत्र को दैवयोगवश स्वस्थ भी पाया।

देशी - विदेशी शाकाहार - परिपालकों के उक्त परिचय का बोध करके इस बात का सहज ज्ञान होता है कि शाकाहार के और भी अनेकों लाभ हैं यथा -

(1) शाकाहार बुद्धि - सद्बुद्धि उपजायक, एवं सद्बुद्धि वृद्धिंगत कारण है।

(2) शाकाहार का दृढ़ता के साथ गहन सह सम्बन्ध है एवं यह सम्बन्ध द्वि - पक्षीय है अर्थात् शाकाहारी दृढ़ होता है एवं दृढ़ ही शाकाहारी हो सकता है, शाकाहार कायरता लाता नहीं एवं कोई भी कायर - जन शाकाहारी या सच्चे अर्थों में शाकाहारी हो सकता नहीं, क्योंकि शाकाहार एवं अहिंसा परिपालनार्थ दृढ़ आत्मबल आदि की आवश्यकता होती है।

(3) शाकाहार कर्त्तव्य - बोध से च्युत कदापि नहीं करता तथा न ही अत्याचार या निज अधिकार हनन को सहते रहने की कुशिक्षा देता है, अपितु यथासंभव अहिंसा द्वारा ही निज - अधिकार का युद्ध सिखलाता है।

इन सभी एवं पूर्व कथित शाकाहार महत्ताओं के परिप्रेक्ष्य में आज आवश्यकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि हम शाकाहार को बुद्धिपूर्वक बिना किसी कुतर्क के अपनाऐं, स्वीकारें एवं अधिक से अधिक मांसाहारियों को नैतिक, मानवोचित, जीवदया पूर्ण एवं निर्दोष आहार - 'शाकाहार' अपनाने के लिए प्रेरित करें - करावें, यही अभीष्ट है।

किन्तु अभी सर्वत्र शाकाहार संभावनादि के सम्बन्ध में, एक महत्वपूर्ण स्पष्टीकरण और अनिवार्य है। प्रश्न - ''ठंडे देशों में शाकाहार कैसे संभव?'' के समाधानार्थ एक प्रतिप्रश्न करना सर्वथा - उपयुक्त रहेगा - ''ध्रुव क्षेत्रों के या विकट ठंडे देशों के लोग जिन पशुओं का मांस खाते हैं, क्या वे पशु मांसाहारी होते हैं?'' उत्तर होगा - 'नहीं।' पुनः प्रश्न उठना अवश्यंभावी है - ''फिर वे पशु क्या खाते हैं, एवं क्या खाकर जीवित रहते हैं?'' उत्तर होगा - ''मांस' या 'काई' सदृश एक वनस्पति।'' ऐसा समाधान जान लेने के पश्चात् कहने की आवश्यकता नहीं कि उन विकट ठंडे देशों/क्षेत्रों के मानव भी उसी काई आदि को मनुष्य के खाने योग्य अवश्य ही बना सकते हैं और फिर आज के विविध क्षेत्रीय शोधरत वैज्ञानिकों का ध्यान भी दक्षिणी ध्रुव - क्षेत्र ''मैत्री'' में उगाई गई सब्जियों, फलों ही की भांति, अत्यन्त ही तेजी से, समग्र मानव - जाति के लिए, शाकाहार उपलब्ध कराए जाने की दिशा में, अन्य बर्फ जमे क्षेत्र-वासियों के प्रति भी केन्द्रित हो, यही आज की जन कल्याणप्रद आवश्यकता है।

* पी.डब्ल्यू.डी. क्वार्टर नं.52,
समद रोड, **अलीगढ़ - 202 001 (उ.प्र.)**

प्राप्त - 9.8.2002

कंपिल्य सिद्धक्षेत्र पर शास्त्रि परिषद एवं विद्वत् महासंघ का संयुक्त अधिवेशन

भगवान विमलनाथ के चार कल्याणकों की पुण्य भूमि पर पूज्य मुनि श्री समतासागरजी, मुनि श्री प्रमाणसागरजी, ऐलक श्री निश्चयसागरजी के सान्निध्य में युवा प्रतिष्ठाचार्य श्री सनतकुमार विनोदकुमारजी रजवाँस वालों के आचार्यत्व में विविध धार्मिक, सांस्कृतिक आयोजनों के साथ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई। इन्दौर की पंचकल्याणक नृत्यनाटिका की सभी ने बहुत सराहना की। इस अवसर पर प्रा. नरेन्द्रप्रकाशजी जैन की अध्यक्षता में शास्त्रि परिषद एवं डॉ. शेखरचन्द जैन की अध्यक्षता में भगवान ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ की कार्यकारिणी की बैठकें सम्पन्न हुई। दोपहर में डॉ. शेखरचन्द जैन की अध्यक्षता में दोनों संस्थाओं का खुला अधिवेशन सम्पन्न हुआ, जिसमें महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित हुए। जिनके भाव निम्नलिखित हैं -

1. हमारे पूज्य मुनिवर, श्रद्धेय पंडित वर्ग व सुधी श्रावकगण पूरे देश में जहाँ जिस प्रकार की पूजा पद्धति का चलन हो, श्रावक समाज की जिस प्रकार की श्रद्धा हो, उसे बदलने का उपाय या हस्तक्षेप कर समाज में वैमनस्यता न बढ़ायें।
2. हमारे पूज्य साधु भगवंत किसी एक आचार्य द्वारा स्थापित किसी भी मूर्ति या अन्य स्थायी महत्वपूर्ण कार्यों की टीका टिप्पणी करके उन्हें दूर कराने का प्रयत्न कर समाज में भेदभाव उत्पन्न न करें।
3. दोनों संस्थाएँ भगवान महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालन्दा) ही मानती है। ऐसा स्पष्ट प्रस्ताव सर्वानुमति से कार्यकारिणी एवं सामान्य सभा में पारित किया गया।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा को सुन्दर रूप से सम्पन्न कराने में पं. शिवचरनलाल जैन मैनपुरी, डॉ. श्री सुशीलकुमार मैनपुरी का विशेष सहयोग रहा। कंपिल्यजी में एक भी जैन का घर न होने के बावजूद इतना सुन्दर कार्य हो सका यह भी एक अतिशय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

कृषि, पशु, जन स्वास्थ्य के लिये एक चेतना प्रदायी क्रिया

अग्निहोत्र क्रिया

■ मन्मथ पाटनी *

इस टिप्पणी के लेखक श्री मन्मथ पाटनी प्रेस्टीज ग्रुप ऑफ कम्पनीज के वाइस प्रेसिडेन्ट है, साथ ही Food Technology में M.Sc. करने के साथ ही U.S.A. से Low Cost Higher Nutrition Foods में डिप्लोमा प्राप्त हैं। उच्च गुणवत्ता के साथ पदार्थों के निर्माण का आपको दीर्घकालिक व्यावसायिक अनुभव है।

मंत्र शक्ति से हम सब परिचित हैं। जैन धर्म में मंत्रों का विशेष महत्व है। मंत्र शक्ति से सिर्फ मनुष्य ही नहीं, पशु और कृषि पर भी असर होता है और इसका विशेष उदाहरण है 'अग्निहोत्र प्रक्रिया'।

क्या आज बिना रासायनिक खाद, बिना जैविक खाद, बिना कीटनाशक दवाईयों के भरपूर खेती की फसल प्राप्त की जा सकती है? क्या बिना किसी प्रकार की दवाईयों के दीर्घ स्थाई, पुराना अस्थमा रोग ठीक हो सकता है? क्या ज्यादा उन्मादी गाय, भैंस इत्यादि जानवर ठीक किये जा सकते है? जी हाँ, यह सब संभव है - कृषि, पशु, जन स्वास्थ्य सभी के लिये चेतना प्रदायी उपयोगी क्रिया प्रतिदिन अग्निहोत्र को करने से।

आस्ट्रेलिया से आई श्रीमती एन से मैंने पूछा कि आपने अग्निहोत्र को कैसे अपनाया? श्रीमती एन ने बताया कि उनके पति श्री ब्रुश को बचपन से अस्थमा था और यह अस्थमा खत्म होने का नाम ही नहीं ले रहा था। दुनिया भर के इलाज करवा चुके श्री ब्रुश ने अग्निहोत्र के बारे में सुना और अगले दिन से अग्निहोत्र के समक्ष बैठना शुरु किया। उन्होने पाया कि कुछ दिनों में ही उनका अस्थमा क्षीण होता चला गया और तीन माह की अवधि में बिल्कुल ही समाप्त हो गया। श्री ब्रुश अब एकदम स्वस्थ होकर जीवन का आनंद ले रहे हैं। अब वे सबकुछ छोड़कर अग्निहोत्र के लिये पूर्णतः समर्पित हैं और उन्होंने अपना पूरा जीवन अग्निहोत्र के स्वयंसेवक के रूप में दे दिया है।

पहले तो मुझे स्वयं विश्वास नही हो रहा था। सोचा, चलो एक प्रयोग करने में क्या नुकसान है। गत वर्ष सोयाबीन की फसल पर देवास व महू स्थित प्रेस्टीज ग्रुप के फार्म पर प्रयोग किया और पाया कि बिना किसी तरह की रासायनिक खाद के, कीटनाशक दवाईयों के या किसी भी तरह के जैविक खाद के उपयोग के सोयाबीन की फसल औसत पैदावार से डेढ़ गुनी हुई।

विश्व में इस तरह के प्रयोग कई स्थानों पर किये गये है। विभिन्न देशों की सरकारों से, विशेषज्ञों से प्रामाणिकता सिद्ध हुई है। विश्व के पर्यावरण को सुधारने का काम, विश्व में शांति लाने का कार्य और विश्व में अहिंसक खेती का कार्य प्रारम्भ हुआ है। भारत में भी ये प्रयोग कई स्थानों पर किये जा रहे हैं।

आइये! जानें, अग्निहोत्र क्या है?

यज्ञ शास्त्र - प्रकृति में विद्यमान विविध चक्र - ऊर्जा चक्र, ताल चक्र, ऋतु चक्र, जीवन चक्र सृष्टि के नियमानुसार कार्य करते हैं, इसीलिये समस्त विश्व में व्यवस्था बनी हुई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। ऊर्जा न तो निर्मित की जा सकती है, न ही नष्ट। केवल विविध स्तरों पर उसके स्वरूप और स्थिति में परिवर्तन किया जा सकता है। उसे आकार, गति एवं दिशा दी जा सकती है।

विभिन्न ऊर्जाओं के सन्तुलीकरण, संगतिकरण एवं केन्द्रीकरण के द्वारा जीव सृष्टि में नव-चेतना प्रदान करने की वैज्ञानिक प्रक्रिया को यज्ञ शास्त्र कहा जाता है। भिन्न-भिन्न परिणामों को प्राप्त करने हेतु भिन्न-भिन्न यज्ञों की योजना की जा सकती है। यह प्राण शक्ति को प्रभावित कर अति सूक्ष्म स्तर पर अणुओं की अन्त: रचनाओं पर सुप्रभाव डालने वाला शास्त्र है।

प्रदूषण एक संकट - अज्ञानवश, मनुष्य प्रकृति के ऊर्जाक्षेत्र में हस्तक्षेप एवं उथल-पुथल करता है, जिसके फलस्वरूप प्रकृतिचक्र अस्त-व्यस्त हो जाता है। इसी कारण जीव-सृष्टि का विनाश होता है। प्रदूषण ऐसी ही एक मानव-निर्मित समस्या है। प्रदूषण के कारण जीव सृष्टि की आधारभूत चैतन्यदायी प्राणमयी ऊर्जा क्षीण होने लगी है, फलस्वरूप जीव सृष्टि में दुर्बलता आने लगी है।

पदार्थों के अणुओं की अन्त: रचना स्थित शक्ति क्षेत्र दुर्बल होने के कारण अणु में स्थित गतिमान इलेक्ट्रॉन अणु गर्भ की कक्षा के शक्ति क्षेत्र से बाहर निकलकर अन्य अणुओं की व्यवस्था में तत्काल प्रवेश करते हैं फलस्वरूप इन अणुओं का मूल स्वरूप बिलकुल बदल जाता है। इस प्रक्रिया में एक बहुत बडी विध्वंसक ऊर्जा उत्सर्जित होती है तथा इधर-उधर प्रक्षेपित होती है जिसका विपरीत परिणाम जीव सृष्टि के विनाश का कारण बन जाता है।

प्रदूषण के कारण मनुष्य का शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ खराब होता है, वनस्पति, सूक्ष्मजीव एवं प्राणी व पक्षियों का जीवन संकट में आ जाता है। भूकंप, ज्वालामुखी प्रस्फुटित होना, अतिवृष्टि, अकाल, बाढ़, संसर्ग जन्य रोग या नई-नई प्राणघातक बीमारियों का तेजी से फैलना, मनोविकारों की प्रबलता बढने से अपराधी मनोवृत्ति को बढावा मिलना, मद्य एवं मादक पदार्थों के प्रति आकर्षण होना, अशान्ति तथा कलह का बढ़ना आदि दुष्परिणाम प्रदूषण के कारण ही चारों ओर दिखाई दे रहे हैं। पृथ्वी लोक पर मानव आज संकट काल से गुजर रहा है। मानव वंश समूल नष्ट होने जैसी स्थिति निर्मित हो रही है।

अग्निहोत्र का प्रयोग कैसे करें? - पिरामिड के आकार के ताम्र पात्र में गाय-बैल (गोवंश) के गोबर के बने कण्डों में अग्नि प्रज्जवलित कर सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय चुटकीभर अखंडित चांवल को थोडा सा गाय के दूध से बना शुद्ध घी लगाकर उस मिश्रण को दाहिने हाथ का अगूंठा, बीच वाली अंगुली (मध्यमा) एवं अनामिका से पकडकर (मृगमुद्रा) हृदय के पास स्थित अनाहत चक्र के निकट ले जाकर विशिष्ट मंत्रोच्चार के साथ धुँआ रहित प्रज्जवलित अग्नि में मंत्र के 'स्वाहा' शब्द के उच्चार के साथ सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय समर्पित करें। मंत्रों के बारे में लेखक से सम्पर्क कर सकते हैं।

सम्पूर्ण वर्ष का सूर्योदय एवं सूर्यास्त का समय गाँव के अक्षांश/रेखांश के आधार पर ज्ञात किया जा सकता है।

अग्निहोत्र का परिणाम - प्रज्जवलित अग्नि में चॉवल, घी तथा मंत्र का मिश्रण तत्काल अतिसूक्ष्म ऊर्जा में परिवर्तित हो जाता है। परिणाम स्वरूप ताम्रपात्र के आसपास विद्युत चुम्बक के समान आकर्षण क्षेत्र का निर्माण हो जाता है जिसके फलस्वरूप प्राणमय शक्ति गतिशील होकर 18 किलोमीटर की ऊँचाई पर स्थित सौर-मण्डल की ओर बढ़ने लगती है। ऊर्जा के इस प्रचण्ड तूफान का शोर इतना प्रबल होता है कि इसका मनुष्य के मन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर तत्काल प्रभाव होकर मन शान्ति अनुभव करने लगता है। प्राणमयी शक्ति एवं मन मानों एक ही सिक्के के दो पहलू के समान होने से मानवी विकारों का कुप्रभाव कम होने लगता है और मन शनै: शनै: शान्त एवं प्रेममय बनने लगता है।

इस कल्याणकारी वातावरण से शरीर एवं मन पर होने वाले इष्ट परिणाम प्राप्ति हेतु हमें चाहिये कि हम अग्निहोत्र समाप्ति के पश्चात् ताम्रपात्र के निकट अधिक से अधिक समय तक बैठे रहें। त्वचा के लक्षावधि रन्ध्रों (छिद्रों) से यह ऊर्जा शरीर की असंख्य नाड़ियों का शुद्धिकरण करते - करते शरीर में स्थित दस चक्रों तक पहुँचती है तथा शरीर की विविध व्यवस्थाओं (Systems) में व्याप्त असन्तुलन एवं अव्यवस्था को धीरे - धीरे समाप्त करने लगती है, साथ ही वायुमण्डल का संतुलन भी ठीक हो जाता है। धारणा एवं मौन की प्रक्रिया इससे लाभान्वित होने से हम ध्यानावस्था की ओर अग्रसर होने लगते हैं। 200 मीटर की परिधि में स्थित वनस्पति की सूक्ष्म काया इस ऊर्जा को ग्रहण करने हेतु क्षणमात्र में अग्निकुण्ड की ओर आगे बढ़ती है। पालतू प्राणी, पक्षी भी इस दिव्य क्षण की आतुरता से प्रतीक्षा करते हैं एवं स्वास्थ्य के लिये हानिकारक जीवाणु, रोगाणु वहाँ से पलायन कर जाते हैं। प्राणमय ऊर्जा, श्वसन संस्था, रक्ताभिसरण संस्था, पाचन संस्था, मज्जा संस्था, प्रजोत्पादन संस्था, नाडी व्यवस्था की सूक्ष्म संरचना आदि को चैतन्यमय, पुष्ट एवं निरोग बनाती है। इसके कारण मज्जर पेशियों के नवीनीकरण की प्रकिया व हड्डी, माँस, खून आदि पेशियों का विकास होता है।

अग्निहोत्र वातावरण में वनस्पतियों को जीवनदान मिलता है, गमलों में लगे पौधों का अच्छा विकास होता है ऐसा अनुभव है। इसी कारण से देशी, विदेशी कृषक अपनी खेती को समृद्ध बनाने हेतु अग्निहोत्र प्रक्रिया की ओर आकृष्ट हो रहे हैं।

अग्निहोत्र वातावरण में बोयी गई साग - सब्जियाँ सेवन करने से अनेक रोगों का निवारण होने लगता है। अग्निहोत्र प्रक्रिया के साथ अग्निहोत्र भस्म का भी रोग नाश करने, मिट्टी का कस बढ़ाने तथा कम्पोस्ट खाद की प्रक्रिया को प्रभावी बनाने में उपयोग किया जा सकता है। कपड़े से छने अग्निहोत्र भस्म के अग्निहोत्र के समय गाय के घी के साथ चुटकी भर मात्रा में सेवन करने से अनेक बीमारियाँ दूर हो जाती हैं। गाय के घी में भस्म मिलाकर बनाये गये मल्हम का उपयोग त्वचा रोग निवारण का प्रभावी इलाज है।

पश्चिमी वैज्ञानिकों का अनुमान है कि अग्निहोत्र के यह अनाकलनीय परिणाम स्पन्दात्मक प्रतिध्वनि (रेझोन्स) के सिद्धान्तों के कारण होते हैं। अग्निहोत्र भस्म के सूक्ष्मकणों से निरन्तर शक्तिशाली ऊर्जा निरन्तर उत्सर्जित होती रहती है। सूर्योदय एवं सूर्यास्त के समय भस्मकणों में स्थित ऊर्जा बार - बार कृति प्रवण (एक्टिवेट) होते रहने से भस्म की परिणामकारकता चिरन्तन बनी रहती है।

अग्निहोत्र के प्रणेता श्री बसंत परांजपे जी को विश्वास है कि अग्निहोत्र ही एकमात्र रास्ता है जिससे विश्व अहिंसक खेती की ओर अग्रसर होगा और विश्व का पर्यावरण ठीक किया जा सकेगा और इससे विश्वशांति लाई जा सकती है, विश्व को बचाया जा सकता है। इस आन्दोलन में भारत विश्व का प्रतिनिधित्व करेगा।

* 'मनकमल', 104, नेमीनगर, इन्दौर - 452 009

(श्री परांजपे कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ में चर्चा हेतु पधारे थे, उनके आगमन के समय के चित्र कवर - 3 पर दृष्टव्य हैं। —**सम्पादक**)

प्राप्त - 25.09.2002

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

भारतीय अहिंसा महासंघ की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि

नई मांस योजना अस्वीकृत

■ डॉ. चिरंजीलाल बगड़ा*

दसवीं पंचवर्षीय योजना अपनी तैयारी के अंतिम चरण में है। आगामी पाँच वर्षों तक देश की मांस नीति बनाने के लिये योजना आयोग द्वारा बनाई एक 6 सदस्यीय उपसमिति में अल्लाना समूह के चेअरमेन श्री इरफान अल्लाना (अध्यक्ष), श्री सतीश साबरवाल (अलकबीर के मालिक), तीन सरकारी प्रतिनिधि तथा मैं, इस प्रकार छः सदस्य थे। इस समिति में बाकी पाँच सदस्य एकमत थे, एकमात्र मैंने बयालीस पृष्ठीय अपना लिखित प्रतिवाद अनेक दस्तावेजों एवं पुस्तकों को संलग्न करके प्रस्तुत किया था। मुख्य कार्यसमिति के अध्यक्ष डॉ. पी. एन. भट्ट ने योजना आयोग उपाध्यक्ष को गत 25 जनवरी 2002 को 174 पृष्ठ की अपनी अंतिम रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमें मेरे प्रतिवाद का तीन पृष्ठीय मुख्य पत्र (पृष्ठ 172 - 174) यथावत संलग्न है। ज्ञात रहे डॉ. भट्ट वर्ल्ड बफेलो ट्रस्ट के अध्यक्ष हैं तथा उनका मांस एवं मांस निर्यात से सीधा व्यक्तिगत रूझान है। उनके खिलाफ अनेक आर्थिक अनियमितताओं के केस भी सरकार के विचाराधीन हैं तथा उनकी जांच चल रही है। उक्त उपसमिति ने करोड़ों रुपयों के विनियोजन से पूरे देश में, गाँव - गाँव में बूचड़खानों का जाल बिछा देने की सिफारिश की थी। जिनमें प्रमुख सुझाव थे - 50 निर्माणाधीन बूचड़खानों को शीघ्र पूरा करना, 10 महानगरों में, 50 बड़े शहरों में, 500 मध्यम शहरों में तथा 1000 ग्रामीण इलाकों में नये बूचड़खाने बनाना, साथ ही 50 शहरों में सुअर मारने वाले कत्लखाने खोलना तथा 1000 चिकन ड्रेसिंग केन्द्र खोलना, ... आदि आदि। इसके अलावा भी मांस उद्योग को प्रोत्साहन देने वाले अनेक सुझाव दिये गये थे।

सुखद है कि हमारे अनेक अप्रत्यक्ष दबावों एवं देश के अनेक सक्रिय व्यक्तियों, संस्थाओं एवं साधु - संतों के प्रबल विरोध के चलते तथा मेरे लिखित प्रतिवाद को ही प्रमुख आधार बनाकर योजना आयोग ने उक्त उपसमिति के प्रस्तावों का पुनर्मूल्यांकन करना स्वीकार किया तथा अन्ततः उन्होंने नये बुचडखानों के निर्माण की समस्त प्रस्तावित योजनाओं को अस्वीकृत कर दिया। तीव्र विरोध को देखते हुए योजना आयोग ने अधिकृत सूचना जारी कर इसकी पुष्टि भी की है जिसमें स्पष्ट घोषणा की है कि - 'उक्त रिपोर्ट में सदस्यों की व्यक्तिगत पक्ष - विपक्ष में राय को देखते हुए मांस उपसमिति की सिफारिशों को योजना आयोग अमान्य घोषित करती है।'

यह अहिंसा की संगठित शक्ति की एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक उपलब्धि है।

* सम्पादक - दिशा बोध,
46, स्ट्राण्ड रोड, तीन तल्ला,
कोलकाता - 700 007

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

विस्मयकारी, रहस्यमयी क्राप सर्कल्स

□ मन्मथ पाटनी *

ब्रह्माण्ड आश्चर्यों से भरा पड़ा है। प्रतिदिन कोई न कोई आश्चर्य घटित होता रहता है। इनमें कई विस्मयकारी आश्चर्य हैं, जिनके बारे में खोज सतत् जारी हैं, परन्तु अभी भी कह नहीं सकते हैं कि वह क्या है? कैसे घटित हो जाता है? कौन करता है? क्या ब्रह्माण्ड में किसी अन्य शक्ति का अस्तित्व है? क्या किसी रिमोट पद्धति द्वारा कोई अन्य व्यक्ति अन्य ग्रह से पृथ्वी पर अपनी पहचान बताना चाहता है? ऐसे रहस्यमयी आश्चर्यों में से एक है 'क्राप सर्कल्स' - फसलों पर बनाई जाने वाली आश्चर्यजनक आकृतियाँ। आइये देखें आखिर ये क्राप सर्कल्स हैं क्या?

पहले हम समझें कि क्राप सर्कल - फसल चक्र नहीं हैं। इसका हिन्दी नामान्तरण होना बाकी है। इतनी आश्चर्यजनक घटना का नाम भी थोड़ा बड़ा और आश्चर्यकारी होना चाहिये। मुझे लग रहा है कि क्राप सर्कल इस घटना के लिये बहुत छोटा नाम है, संकीर्ण नाम है। संध्या समय पूरा क्षेत्र, पूरा खेत, पूरा गेहूँ का खेत शांत दिखाई दे रहा है। कहीं कोई हलचल नहीं। सबेरे-सबेरे, सुबह की सूर्य किरण के साथ पुनः खेत का अवलोकन करने पर - अरे यह क्या हुआ? पूरे खेत के एक बड़े हिस्से में कुछ पौधे आधे झुके हुए, कुछ पूरे झुके हुए, कुछ बायीं ओर झुके हुए, कुछ दायीं ओर झुके हुए - आश्चर्य! ऊपर से हेलीकाप्टर से देखने पर आँखें खुली की खुली रह गईं। यह क्या? यह तो रेखा गणित की कोई आकृति दिखाई दे रही है। पूरी आकृति गोल चक्करों से निर्मित। यह है क्राप सर्कल्स।

विल्ट सायर (यू.के.) क्राप सर्कल स्टडी ग्रुप के अनुसार इस बात में शंका की कोई गुंजाईश नहीं रह गई है कि क्राप सर्कल्स सही में बनते हैं। अब उन्हें पृथ्वी पर देखा जा सकता है, नापा जा सकता है, उसका सेम्पल लिया जा सकता है। एक बार जमीन पर, खेत में फसल पर आकृति बनने के बाद कई सप्ताह तक फसल पर यह आकृति बनी रहती है, जब तक कि किसान अपनी यह फसल काट नहीं लेता है। इस तरह इसका अध्ययन करने का पूरा मौका व समय मिल जाता है।

पिछले बीस वर्षों में पूरी दुनिया से प्राप्त खबरों से हजारों की संख्या में इस तरह क्राप सर्कल्स बनने को रिकार्ड किया गया है। वैज्ञानिक कार्य प्रगति पर है और अनुसंधान बताते हैं कि जिन स्थान पर क्राप सर्कल्स बनते हैं, वहाँ की जमीन अन्य स्थान की जमीन से अलग गुण-धर्म युक्त हो जाती है और पौधे भी अपना अलग रंग दिखाते हैं। और तो और, इस स्थान पर उसके ऊपर इलेक्ट्रानिक यंत्र जैसे विडियो कैमरा, विडियो रिकार्ड्स, अन्य साउन्ड इक्वीपमेन्ट्स, कम्पास इत्यादि अपना काम सही ढंग से करने के बजाय कुछ अलग/गलत ढंग से करने लगते हैं।

प्रति वर्ष 200 से 250 इस तरह के फार्मेशन्स रिपोर्ट किये जा रहें हैं। दुनिया के अन्य हिस्सों के बजाय इंग्लैण्ड में अधिक दिखाई दिये हैं। विल्ट सायर, उसके आसपास का क्षेत्र, पुराने स्थान, एवीबरी के पत्थर वाले मन्दिर व उसके आसपास का क्षेत्र ज्यादा सक्रिय व ज्यादा तीव्र हैं।

क्राप सर्कल्स रेखागणितीय आकार में फसलों पर, दूसरी वनस्पति पर और कभी-कभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रेत, पत्थर की बज़री, सादी जमीन और कभी-कभी बर्फ के ऊपर भी प्रेस किये हुए मिलते हैं। ये छोटे से लेकर बड़े आकार में और बहुत बड़े आकार से छह इंच व्यास तक भी मिले हैं। अभी तक प्राप्त सबसे बड़ा फार्मेशन एक मील लम्बा, कई आकार के चक्रों के साथ, 409 चक्रों वाला, 787 फीट व्यास के साथ सन् 2000 में विल्ट सायर के मिल्क हिल्स में पाया गया था। ये औसतन एक फुटबाल मैच के मैदान के बराबर होते हैं। ऐसा लगता है जैसे बहुत धीरे से पौधों को किसी ने दबाकर कई सुन्दर और सूक्ष्म एवं अर्थपूर्ण आकृतियाँ जमीन पर बनाई हैं। खास बात यह है कि पौधे नष्ट नहीं होते हैं, समय के साथ बढ़ते हैं और फसल पकती भी है।

क्राप सर्कल सिर्फ साधारण निशान ही नहीं हैं, रेखागणित की बहुत बारीकी से बनाई गई आकृतियाँ, गणित की उच्चस्तरीय पहेली का चित्र या पुरानी चीजों से मिलती-जुलती निशानों से बनी हुई या कभी तीनों से मिलती-जुलती आकृतियाँ हैं।

कई रिपोर्टस् बताती हैं कि क्राप सर्कल्स पूरी शताब्दी से हमारे साथ हैं। परन्तु पिछले बीस वर्षों से लगातार हमारे खेतों में एक फार्मेशन से दूसरे फार्मेशन पर हर बार अधिक अर्थपूर्ण आकृतियों के साथ, कठिनतम गणितीय आकृतियों के साथ प्रस्तुत हुए हैं। ये सांकेतिक तो हैं ही, क्योंकि यह एक अंतरंग अर्थ रखते हैं और पुराने संकेतों की तरह कई तरह से, कई बहुरूपता के साथ, बहुत अर्थपूर्ण तो होते हैं, कई स्तर पर, कई तरह से, कई तरह के लोगों ने इस अर्थपूर्ण भाषा को समझने की कोशिश की है।

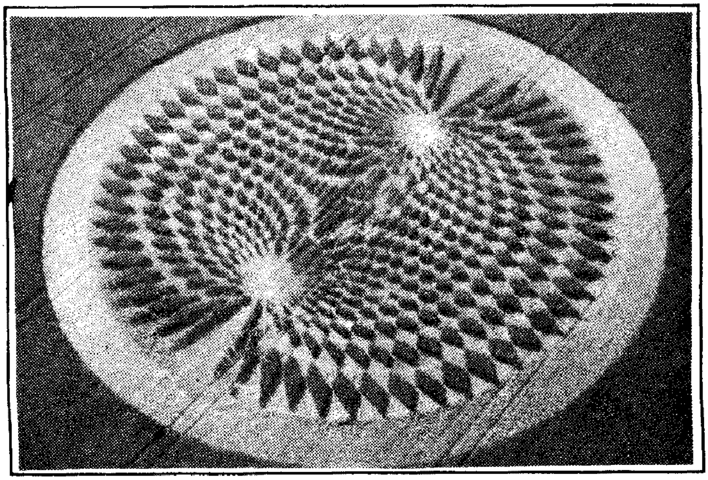

22.7.2000 को विल्टसायर (इंग्लैंड) में बने क्राप सर्कल का दृश्य

क्राप सर्कल का कई वर्षों से, कई उदाहरणों के साथ अंतहीन सिलसिला जारी है और उसका अंत भी नहीं दिखता है। विस्मयकारी गहनता और गहन होती जा रही है। ब्रह्माण्ड अपने आश्चर्य दिन-प्रतिदिन दिखाते जा रहा है और हम बौने साबित हो रहे हैं।

इन रहस्यों के समाधान में यह तथ्य दृष्टि में रखना उपयोगी होगा कि जैनागमानुसार वर्तमान ज्ञात पृथ्वी जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भरत क्षेत्र के एक भाग आर्यखंड में समाहित है एवं न केवल इस जम्बूद्वीप अपितु घातकीखंड द्वीप में भी अनेक उत्कृष्ट सभ्यताओं, जीव राशियों की विद्यमानता है। विदेह क्षेत्र आदि भी इन्हीं द्वीपों में समाहित हैं। क्या यह उन सभ्यताओं के विशिष्टजनों की वैज्ञानिक गतिविधियों का परिणाम तो नहीं? यह विचारणीय है।

* वाइस प्रेसिडेन्ट - प्रेस्टीज ग्रुप ऑफ इंडस्ट्रीज
'मनकमल', 104, नेमीनगर, इन्दौर - 452 009

प्राप्त - 25.09.2002

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

अशोक स्तम्भ की संरचना में जैनधर्म का प्रभाव

■ डॉ. शीतलकुमार एवं डॉ. पवनकुमार जैन *

भारत वर्ष के उत्तरप्रदेश प्रान्त में गंगा नदी के तट पर स्थित वाराणसी शहर विश्व के प्राचीनतम नगरों में से एक है। यह विश्व के तीन धर्मों - हिन्दू, जैन एवं बौद्ध सभी के लिये महत्वपूर्ण स्थान है। जैन धर्मावलम्बियों के लिये वाराणसी शहर एक विशेष स्थान रखता है, क्योंकि जैन धर्म के 24 में से 4 तीर्थंकरों की यह जन्मभूमि है - सातवें श्री सुपार्श्वनाथजी, आठवें श्री चन्द्रप्रभुजी, ग्यारहवें श्री श्रेयांसनाथजी एवं तेइसवें श्री पार्श्वनाथजी। भगवान पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष थे। उनका जन्म वाराणसी शहर में ईसा से 877 वर्ष पूर्व में हुआ था। वाराणसी शहर के भेलूपुर नामक स्थान पर पार्श्वनाथजी का एक भव्य मन्दिर है एवं यात्रियों के ठहरने के लिये एक धर्मशाला है।

बौद्ध धर्मावलम्बियों के लिये सारनाथ इसलिये महत्वपूर्ण है कि 2500 वर्ष पूर्व महात्मा बुद्ध ने यहाँ पर अपना प्रथम उपदेश दिया था। लेकिन ग्यारहवें तीर्थंकर श्री श्रेयांसनाथ का जन्म सारनाथ में उससे भी हजारों वर्ष पूर्व हुआ था। वहाँ पर भगवान श्रेयांसनाथ का एक भव्य मन्दिर एवं धर्मशाला है।

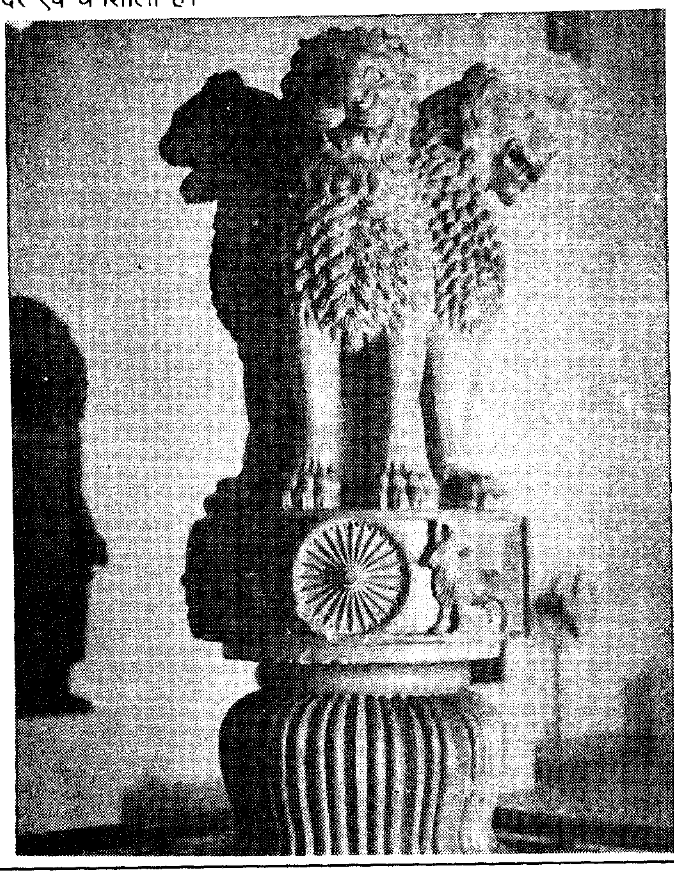

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारनाथ पुरातत्व अन्वेषकों के लिये एक महत्वपूर्ण स्थान है। सारनाथ में पुरातत्व की दृष्टि से काफी खुदाई हुई है। उस खुदाई में पुरातत्व सम्बन्धी मिली पुरानी वस्तुओं एवं मूर्तियों को सुरक्षित रखने के लिये सन् 1920 में एक पुरातत्व संग्रहालय की स्थापना की गई थी। यह भारत सरकार के पुरातत्व विभाग के नियंत्रण में है। पुरातत्व संग्रहालय सारनाथ में स्थित जैन धर्मशाला के परिसर से सटा हुआ है।

अशोक स्तम्भ पुरातत्व संग्रहालय का सबसे महत्वपूर्ण आकर्षण है। यह भारत देश का राष्ट्रीय चिन्ह है एवं भारत के सभी नोटों पर मुद्रित है। अशोक स्तम्भ में चारों दिशाओं में मुख किये हुए चार शेर हैं। यह सर्वविदित है कि अशोक स्तंभ को सम्राट अशोक ने बनवाया था। लेकिन बहुत कम लोग जानते होंगे कि अशोक स्तंभ के स्वरूप में जैनधर्म की विशिष्ट छाप है। अशोक स्तंभ के चार चक्र हैं। प्रत्येक चक्र में 24 तीलियाँ हैं। अशोक ने 24 तीलियों को 24 जैन तीर्थंकरों के प्रतीक के रूप मे बनवाया था। इस विश्वास का एक ठोस आधार है। चन्द्रगुप्त मौर्य ने भारत को यूनानियों से मुक्त कर देश में प्रथम गौरवशाली साम्राज्य की स्थापना की थी। उसने अपने जीवन के अंतिम चरण में जैनधर्म को अंगीकार किया था। अशोक चन्द्रगुप्त का पौत्र था। वह जीवन के प्रारम्भिक काल में जैन था एवं तभी उसने अशोक स्तंभ का निर्माण करवाया था।

आम जनता यह समझती है कि अशोक चक्र की 24 तीलियाँ 24 घंटे का प्रतीक हैं। भारत की पुरानी समय गणना पद्धति 1 दिवस (दिन + रात) = 60 घड़ी एवं 1 घड़ी = 60 पल पर आधारित थी। इस समय - गणना - पद्धति का प्रयोग भारतीय पंचांग में किया गया है।

अशोक स्तंभ में चार पशुओं - बैल, हाथी, घोड़ा एवं शेर की छबियाँ अंकित है। ये अशोक स्तंभ की चार दिशाओं में बने हुए हैं। हर एक पशु छबि के बीच में एक चक्र है। यह इस बात को दर्शाता है कि हर एक चक्र का 24 तीलियों से सम्बन्ध है। जैन मान्यता के अनुसार ये चार पशु चार तीर्थंकरों के चिन्ह हैं -

क्रम	**तीर्थंकर**	**चिन्ह**
प्रथम	श्री ऋषभदेवजी	बैल
द्वितीय	श्री अजितनाथजी	हाथी
तृतीय	श्री संभवनाथजी	घोड़ा
चौबीसवें	श्री महावीर स्वामीजी	सिंह

चक्र में चौबीसी तीलियाँ और चार पशुओं की अंकित छबि जैनधर्म के प्रभाव को स्पष्ट रूप से दर्शाती हैं। अशोक स्तंभ के ऊपरी हिस्से में चारों दिशाओं में मुख किये हुए चार शेर है जो चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर के चिन्ह हैं एवं महावीर के शान्ति संदेश को चारों दिशाओं में फैलाते हैं।

उपरोक्त लेख यह दर्शाता है कि सम्राट अशोक द्वारा बनाये गये अशोक स्तंभ की संरचना में जैन धर्म का विशिष्ट प्रभाव है।

प्राप्त : 09.04.02

※ 81 - ए, जवाहरनगर कालोनी, भेलूपुर, **वाराणसी** (उ.प्र.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

संग्रहालयों में जैन प्रतीकों की भ्रामक प्रस्तुतियाँ

□ डॉ. स्नेहरानी जैन *

संग्रहालयों में प्रस्तुत सामग्री की विवेचना/परिचय, विशेष विद्वानों से विचार विमर्श और आधार साक्ष्य को देखकर ही की जाती है। कुछ समय पूर्व मुझे पांडिचेरी का संग्रहालय देखने का मौका मिला। मेरा अभियान पाण्डुलिपियों की खोज था। फलस्वरूप मैं वहाँ अरविन्द आश्रम के समीप स्थित फ्रैंच लायब्रेरी में प्राचीन साहित्य को खोजने पहुँची। पाण्डुलिपियों वाले सेक्शन में देखने से ऐसा संकेत मिला कि यूरोप स्थित पुस्तकालयों में वहाँ के विद्वानों के कार्यों में झाँककर ही कुछ सही जानकारी मिलेगी। एक दिन वहीं पीछे स्थित पुरातत्वीय संग्रहालय को देखने के लिये मैं नीचे चली गई। मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं था।

द्वार पर एक अनाम स्तूप खड़ा था जिसके बारे में पूछने पर वहाँ तैनात महिला ने उसे 'शिवलिंग' बतलाया। मैंने जब आधार पूछा तो वह स्पष्टीकरण नहीं दे सकी। मैंने उससे आग्रह किया कि वह शिवलिंग नहीं जैन स्तूप है।

मात्र कुछेक दिन पहले उसे उत्खनन द्वारा पांडिचेरी से लगभग 22 किलोमीटर दूर पश्चिम स्थित त्रिभुवनी से प्राप्त करके लाया गया है। इसमें नीचे चतुष्कोणीय आधार है जो संसार की 4 गतियों को स्पष्ट दर्शाता है। इन 4 गतियों से ऊपर अष्ट कर्म दर्शाये गये हैं। ये उसी पत्थर से बना बीच का भाग है। शीर्ष पर अष्ट कर्मों से मुक्त हुई 'पुरुष आत्मा' का एक खंब दर्शाया गया है जो लिंग के आकार से भिन्न है। वास्तव में आत्मा तो अदृष्ट है। सिद्धत्व में दाखिला लेते ही यह मुक्ति का एक मार्ग बतलाती है। वह मार्ग है अष्ट कर्मों की निर्जरा जो तप कर तीर्थंकर करते हैं। शिवलिंग की स्थिति एक योनि कुण्ड पर दर्शायी जाती है जो यहाँ नदारद है। अतः यह जैन स्तूप ही है। कदाचित शिवलिंग की कल्पना जैन स्तूपों को देखकर ही हुई है। इसमें शीर्ष की समानता जितूर जिनमन्दिर में रखी चतुर्मुखी स्तूप से मेल खाती है। प्रांगण में वहीं पास में बैठी दो अर्धपद्मासित मानव मुद्राएँ हैं जो कायोत्सर्ग दर्शाती हैं। दोनों के शीर्ष गायब हैं। मात्र शीर्ष रहित होकर भी अर्ध पद्मासित मुद्राएँ उचित तप को समर्थन देती हैं। एक के पीछे कमलासन रखा है। ऐसी प्रतीत होता है कि ये मुद्राएँ उस प्राचीन काल में क्षुल्लकों की ही रही हैं जिनके शीर्ष कालान्तर में तोड़ दिये गये हैं। गौतम बुद्ध अथवा उनके शिष्यों की ये प्रतीत नहीं होती क्योंकि बुद्ध की ध्यान मुद्रा न केवल भिन्न है, उनकी चादर की सलवटें उनके गात्र को भिन्न प्रकार से ढंकती है। जबकि ये दोनों मुद्राएँ क्षुल्लकों के पट से मेल खाती हैं। अतः इन्हें भी बौद्ध मुद्रा बतलाना भ्रामक है विशेष कर संग्रहालयों द्वारा। पाण्डिचेरी में नेमिनाथ काल में जैन धर्म रहा, ज्ञात होता है। बाद में पार्श्वनाथ काल में भी यह रहा। बौद्ध प्रभावना का संकेत संभव हो सकता है किन्तु उपरोक्त बिम्ब जैनत्व दर्शाते हैं।

पाण्डिचेरी के समीप ही ओटी के प्राचीन मन्दिर पर निर्मित एक नया जैन मन्दिर है। जिसमें आदिनाथ भगवान की एक पाषाण मुद्रा लेपित खड़ी है। वहीं से लगभग 3 कि.मी. दूर एक दूसरे जैन मन्दिर में पीतल की भव्य जिनमुद्राएँ हैं। ये दोनों मन्दिर अति प्राचीन माने जाते हैं।

यूरोप की यात्रा के दौरान म्यूनिच के फोल्कर कुंडे म्यूजियम में भी इस प्रकार गया-पटना से प्राप्त एक जैन स्तूप को बौद्ध स्तूप दर्शाया गया है। बौद्ध स्तूपों की विशेषता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि वे समाधि स्थल के प्रतीक होते हैं और कभी-कभी उनके अन्दर बौद्ध भिक्षुओं की अवशेष अस्थियाँ/राख आदि हो सकते हैं या कि कभी-कभी पाण्डुलिपियाँ भी। जैन स्तूप समाधि स्थान नहीं पूजा के मन्दिर होते हैं। इनमें पूज्य संकेत रहते हैं। अमरावती के जैन स्तूप (जिसे बौद्ध स्तूप बतलाया जाता है) में माल्यधर ओर मन्दिर स्पष्ट दिखाई देते हैं। म्यूनिच के इस स्तूप को तीन भागों में अलग किया जा सकता है और वह चलित मन्दिर की प्रस्तुति करता है। ऊपर का शीर्ष मध्य के चतुर्मुखी की कुंडी में स्थित हो जाता है और वह चतुर्मुख नीचे की चतुर्मुखी में स्थित हो जाता है किन्तु अवशेष, अस्थियाँ आदि रखने योग्य उसमें कोई स्थान नहीं है। नीचे के चतुर्मुख में चारों दिशाओं में चार तीर्थंकर पद्मासित हैं। सभी (नग्न) दिगम्बर मुद्राएँ हैं अत: बौद्ध स्तूप होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ठीक उसी प्रकार जैसा कि अशोक स्तम्भ शीर्ष (सारनाथ) को जैन की जगह बौद्ध दर्शाया गया है। स्पष्ट है कि उसके चक्र और चार पशु सामान्य पशु नहीं तीर्थंकरों के संकेत हैं। उचित होगा कि संग्रहालयों के संरक्षक सही-सही जानकारी दर्शकों को देकर हमारे पुरातत्वीय वैभव को सही प्रस्तुत करें।

* C/o. मलैया ट्रेक्टर्स
स्टेशन रोड, **सागर**

निदेशक मंडल (शोध समिति) - सन् 2001 - 2002

अध्यक्ष
प्रो. ए.ए. अब्बासी
पूर्व कुलपति,
बी - 417, सुदामा नगर,
इन्दौर - 452 009
फोन : 0731 - 2482894

सचिव
डॉ. अनुपम जैन
स. प्राध्यापक - गणित,
शा. होल्कर स्वशासी विज्ञान महाविद्यालय,
'ज्ञान छाया', डी - 14, सुदामा नगर,
इन्दौर - 452 009
फोन : 0731 - (नि.) 2787790 (का.) 2545421

सदस्य

1. **प्रो. आर. आर. नांदगांवकर**
पूर्व कुलपति,
चन्द्रदीप अपार्टमेन्ट, निकालस मन्दिर, इतवारी,
नागपुर - 440 002
फोन : 0712 - 2763186

2. **प्रो. नलिन के. शास्त्री**
कुलसचिव - बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर
केन्द्रीय विश्वविद्यालय, रायबरेली रोड,
लखनऊ (उ.प्र.)
फोन : 0522 - 2440822

3. **प्रो. सुरेशचन्द्र अग्रवाल**
प्राध्यापक एवं अध्यक्ष - गणित,
ए - 2, चौधरी चरणसिंह वि.वि. परिसर,
मेरठ - 250 404 (उ.प्र.)
फोन : 0121 - 2762526

4. **डॉ. एन.पी. जैन**
पूर्व राजदूत,
ई - 50, साकेत,
इन्दौर - 452 001
फोन : 0731 - 2561273

5. **डॉ. प्रकाशचन्द जैन**
91/1, गली नं. 3, तिलकनगर,
इन्दौर - 452 001
फोन : 0731 - 2490619

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

'जीवन क्या है?'

पुस्तक के सन्दर्भ में शंका - समाधान

□ डॉ. अनिलकुमार जैन *

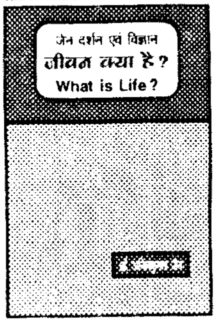

विभिन्न जैन आम्नायों के साधुओं एवं विद्वानों से 'जीवन क्या है?' पुस्तक[1] को लेकर काफी महत्वपूर्ण चर्चायें हुईं तथा महत्वपूर्ण जिज्ञासाएँ एवं शंकाएँ सामने उपस्थित हुईं। कुछ का कहना था कि बैक्टेरिया को त्रस मानना चाहिये तो कुछ का कहना था कि बैक्टेरिया, वायरस और कोशिकाएँ जीव ही नहीं हैं। कुछ अन्य का कहना था कि बैक्टेरिया को वनस्पति वर्ग में रखना चाहिये। दही के बैक्टेरिया को लेकर भी चर्चायें हुईं। इन सबका क्रमश: यहाँ उल्लेख करना उचित रहेगा।

1. **शंका** - बैक्टेरिया को त्रस मानना चाहिये, स्थावर नहीं क्योंकि इन्हें जल में गमन करते हुए देखा जा सकता है।

   समाधान - ऐसा मानने पर श्रावकों को त्रस घात हिंसा का दोष तो लगेगा ही, महाव्रती साधुओं को भी दोष लगेगा क्योंकि वायु में भी बैक्टेरिया होते हैं तथा श्वांस लेने में उनका घात होता है। दही में भी बैक्टेरिया पाये जाते हैं तथा साधुओं को उसके सेवन की छूट है।

2. **शंका** - बैक्टेरिया जीव नहीं हैं, अजीव हैं और इनमें जो वृद्धि आदि देखी जाती है वह पुद्गल स्कन्ध के भेद - संघात आदि के कारण है।

   समाधान - जैन दर्शन और विज्ञान दोनों में जीव के जो लक्षण बताये गये हैं उनके अनुसार बैक्टेरिया जीव ही हैं। इन्हें अजीव मानने पर हम सत्यता से कोसों दूर हो जायेंगे।

3. **शंका** - बैक्टेरिया को स्थावर मानना तो ठीक है, लेकिन उन्हें जलकायिक आदि नहीं माना जा सकता है क्योंकि जल ही है जीव जिनका वे जलकायिक होते हैं जबकि बैक्टेरिया जल से भिन्न हैं। अत: इन्हें जलकायिक से भिन्न मानकर वनस्नति वर्ग में रखना उचित रहेगा।

   समाधान - विज्ञान ने वनस्पति के जो लक्षण बताये हैं वे बैक्टेरिया में नहीं पाये जाते हैं। पशु के लक्षण भी इनमें नहीं पाये जाते हैं। इसी कारण उन्हें एक अलग वर्ग में रखा गया है। अत: इन्हें वनस्पति से भिन्न ही माना गया है। चूंकि वे स्थावर हैं, अत: इन्हें वनस्पति से भिन्न जलकायिक, वायुकायिक आदि ही माना जा सकता है। फिर भी इस पर और अधिक विचार करने की आवश्यकता है।

4. **शंका** - मनुष्य आदि जीवों के शरीर की कोशिकाएँ जीव नहीं हैं बल्कि औदारिक शरीर का हिस्सा मात्र हैं।

   समाधान - जीव के लक्षणों के अनुसार प्रत्येक कोशिका जीव ही है। विज्ञान प्रत्येक कोशिका को जीव मानता है। प्रत्येक कोशिका को अलग करा जा सकता है, उसमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चयापचय, पुनुर्त्पादन आदि क्रियाओं को देखा जा सकता है। जिसमें जीव के लक्षण स्पष्ट दिखाई दे रहे हों उसे अजीव मान लेना उचित नहीं है। कोशिका को अजीव मानने का अर्थ होगा कि विज्ञान की मान्यता के बिल्कुल विपरीत हो जाना। यह सही है कि कोशिकाएँ औदारिक शरीर का हिस्सा हैं।

5. शंका – वायरस अजीव हैं, उनमें जीव के लक्षण दिखाई नहीं देते।

समाधान – वायरस एक बॉर्डर-लाइन केस है। जब यह कोशिका में प्रवेश करता है तो वहाँ पुनुर्त्पादन प्रारम्भ कर देता है और वह भी बहुत तेजी से। अत: जिस समय यह पुनुर्त्पादन करता है उस समय तो निश्चित रूप से जीव ही होता है। उसके पश्चात् यह निष्क्रिय सा हो जाता है।

वायरस को गेहूँ के बीज की तरह योनिभूत स्थान माना जा सकता है। जिस प्रकार गेहूँ का बीज जमीन में गिरता है तो वह अंकुरित हो जाता है और सजीव हो उठता है। इसी से बाद में उसमें गेहूँ पुन: उत्पन्न होता है। इसी प्रकार वायरस को भी एक योनिभूत स्थान माना जा सकता है। जब यह कोशिका में प्रवेश करता है तो अपने जैसे ही दूसरे वायरस पैदा करता है। गेहूँ के दाने पुन: पैदा होने में कुछ समय लगता है जबकि वायरस पुन: पैदा होने में बहुत ही कम समय लगता है। अत: हम मान सकते हैं कि वायरस की आयु बहुत ही अल्प होती है। अत: वायरस उस समय तो निश्चित रूप से अल्प आयु वाला एक जीव ही है जब यह कोशिका में प्रवेश करता है तथा पुनुर्त्पादन करता है।

6. शंका – क्या दही को बिना बैक्टेरिया के बनाया जा सकता है? क्या इसे या फिर इससे बनी छाछ को पूर्ण रूप से बैक्टेरिया रहित अचित्त कहा जा सकता है?

समाधान – बिना बैक्टेरिया के दही बनना संभव नहीं है चाहे किसी भी तरीके से क्यों न बनाया हो। दही को बिलोकर छाछ बनाने पर भी उससे बैक्टेरिया को अलग नहीं करा जा सकता है और न ही वह नष्ट करा जा सकता है। हाँ इतना अवश्य है कि दही बिलोने पर तथा उसमें मसाले आदि मिला देने से बैक्टेरिया की वृद्धि अवश्य रूक जाती है तथा बैक्टेरिया की कालोनी पुन: नहीं बन पाती है। हम कह सकते हैं कि बिलाने पर तथा मसाला आदि मिलाने पर हम उसके योनिस्थान को अस्तव्यस्त (disturb) कर देते हैं तथा उनका पुनुर्त्पादन रूक जाता है। संभवत: दही के सम्बन्ध में इसे अचित्त करने का मतलब यही है कि इसके योनिस्थान को छिन्न-भिन्न कर दिया जाये। और इसके पश्चात् जो बैक्टेरिया रह जाते हैं वे अपनी आयु पूर्ण करके समाप्त हो जाते हैं। इसी कारण दही के बजाय दही की छाछ ग्रहण करने का प्रावधान है। लेकिन जिस छाछ को ग्रहण करा जाता है वह पूर्ण रूप से बैक्टेरिया रहित हो जाती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसी छाछ का माइक्रोस्कोप द्वारा परीक्षण करा जा सकता है और संतुष्ट हुआ जा सकता है।

सन्दर्भ -

1. जीवन क्या है? (What is Life?), डॉ. अनिलकुमार जैन - अहमदाबाद, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ - इन्दौर एवं तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ, 2002

* बी - 26, सूर्यनारायण सोसायटी, साबरमती,
अहमदाबाद – 5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

जैन श्रावकाचार पर राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी

चारबाग - लखनऊ, 15 - 16 अगस्त 2002

□ डॉ. विजयकुमार जैन *

दिगम्बर जैन चातुर्मास समिति एवं साधु संत सेवा समिति, चारबाग, लखनऊ द्वारा आयोजित श्रावकाचार संगोष्ठी लखनऊ में 15 एवं 16 अगस्त 2002 को सम्पन्न हुई। पूज्य मुनि 108 श्री सौरभसागरजी एवं पूज्य मुनि 108 श्री प्रबलसागरजी महाराज के सान्निध्य में आयोजित इस संगोष्ठी में जैन श्रावकाचार का परिचय, विभिन्न श्रावकाचार, वर्तमान में श्रावकाचारों की प्रासंगिकता तथा अपेक्षित सुधारों पर भी विचार किया गया। चारबाग दि. जैन कागजी धर्मशाला परिसर में आयोजित इस संगोष्ठी में जैन समाज के श्रावक - श्राविकाओं ने भाग लिया एवं अपनी शंकायें रखीं। गहन विचार - विमर्श के बाद यही पाया गया कि वर्तमान सन्दर्भों में भी श्रावकों को अपनी शिक्षाओं में सुदृढ़ रहना चाहिये तथा गृहस्थों की समस्याओं के समाधान के लिये इसी तरह की और भी संगोष्ठी होती रहना चाहिये। संगोष्ठी का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है -

प्रथम सत्र, 15 अगस्त 2002, प्रात: 8 से 10.30

अध्यक्ष - पं. शिवचरनलाल जैन, मैनपुरी
मंगलाचरण - श्रीमती आशा रानी जैन, लखनऊ
संयोजन - डॉ. विजयकुमार जैन, लखनऊ
विषय प्रवर्तन - प्रो. वृषभप्रसाद जैन, लखनऊ
पत्र प्रस्तुति - डॉ. कमलेशकुमार जैन, वाराणसी, विभिन्न श्रावकाचारों में प्रतिपादित अष्ट मूलगुण

द्वितीय सत्र, 15 अगस्त 2002, मध्यान्ह 2 से 5

अध्यक्ष - डॉ. रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर
मंगलाचरण - श्रीमती मैत्री जैन, लखनऊ
संयोजन - डॉ. वृषभप्रसाद जैन, लखनऊ
पत्र प्रस्तुति -
1. डॉ. फूलचन्द्र 'प्रेमी', वाराणसी, जैन श्रावकाचार विषयक साहित्य
2. डॉ. नीलम जैन, गाजियाबाद, भारतीय संस्कृति में श्राविकाओं का योगदान
3. श्रीमती गीता दुबे, तिरूक्कुरल काव्य में गृहस्थों के नियम
4. श्रीमती राका जैन, पन्ना, आदिपुराण में प्रतिपादित श्रावकधर्म एवं संस्कार
5. श्री कैलाशचन्द्र जैन सर्राफ, लखनऊ, पंचाणुव्रत
6. डॉ. शैलेन्द्र रस्तोगी, लखनऊ, तीर्थंकर प्रतिमाओं की चरणचौकी पर अंकित पूजन के दृश्य

तृतीय सत्र, 16 अगस्त 2002, प्रात: 8 से 10.30

अध्यक्ष - डॉ. कमलेशकुमार जैन, वाराणसी
मंगलाचरण- श्रीमती त्रिशला जैन, लखनऊ
संयोजन - डॉ. नीलम जैन, गाजियाबाद
पत्र प्रस्तुति-
1. डॉ. शीतलचन्द्र जैन, जयपुर, जैन व्रत एवं पर्वों का वैज्ञानिक अध्ययन
2. डॉ. श्रेयांसकुमार जैन, बड़ौत, श्रावकाचार और सम्यक्त्व
3. पं. निहालचन्द्र जैन, बीना, श्रावक : प्रतिमा विज्ञान
4. पं. शिवचरनलाल जैन, मैनपुरी, जैनत्व : अपेक्षित आचार - विचार
5. डॉ. विजयकुमार जैन, जैन एवं बौद्ध परम्परा में आचार विषयक विवेचन

प्रत्येक सत्र में मुनिद्वय के उद्बोधन, जिनवाणी स्तुति भी सम्पन्न हुई।

* 5/779, विराम खंड, गोमती नगर, **लखनऊ** - 226 010

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋषितुल्य को समर्पित ऋषिकल्प

शीर्षक	:	**ऋषिकल्प (डॉ. हीरालाल जैन स्मृति ग्रंथ)**
सम्पादक	:	डॉ. धरमचन्द जैन
प्रकाशक	:	डॉ. हीरालाल जैन जन्म शताब्दी समारोह समिति, प्रदीप भवन, अग्रवाल कालोनी, जबलपुर
आकार	:	A/4, पृ. 212 + 426 + प्लेट
संस्करण	:	प्रथम, 2001
मूल्य	:	रु. 2100.00
समीक्षक	:	डॉ. अनुपम जैन, इन्दौर

भारतीय साहित्याकाश के दैदीप्यमान नक्षत्र डॉ. हीरालाल जैन ने प्राकृत एवं जैन साहित्य की अप्रतिम सेवा की है। 1899 से 1973 की 74 वर्षीय जीवन यात्रा में अनेक पड़ाव रहे। जिसके अन्तर्गत आपने अमरावती (1925 - 44) में सहायक प्राध्यापक, नागपुर (1944 - 55) में होस्टल वार्डन एवं प्राचार्य, वैशाली शोध संस्थान - बिहार (1955 - 1960) में निदेशक तथा जबलपुर वि.वि. (1961 - 69) में संस्कृत के प्रोफेसर के दायित्व का निर्वाह किया।

M.A., L.L.B., Ph.D. के अतिरिक्त आपने 1944 में नागपुर वि.वि. से सर्वोच्च शोधोपाधि D.Lit. अर्जित की। 1923 से प्रारम्भ अपनी साहित्य सेवा के अन्तर्गत शताधिक ग्रन्थों का सम्पादन किया। 'भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान' आपकी निष्पक्ष, बहुश्रुत कृति है। षटखंडागम (धवला) के 16 भागों का (1936 - 1959) सम्पादन कर आप जैन जगत में अमर हो गये।

2 भागों एवं 10 खण्डों में विभाजित समीक्ष्य ग्रन्थ सम्पादक डॉ. धरमचन्द जैन के प्रयासों से एक महत्वपूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थ बन गया है। इसके 10 खंडों - 1. संस्मरण, 2. जीवन एवं व्यक्तित्व, 3. ऐतिहासिक कृतित्व, 4. चित्रों में डॉ. हीरालाल जैन, 5. सन्दर्भ जन्मशताब्दी, 6. इतिहास, पुरातत्व व जैन स्थापत्य, 7. मध्यकालीन आर्ष भाषा की जैन परम्परा, 8. जैन धर्म और सिद्धान्त, 9. जैन चिन्तन की वैज्ञानिक दृष्टि एवं 10. श्रमण परम्परा में 70 बहुश्रुत विद्वानों के आलेख प्रकाशित हैं, जो विषय वैविध्य एवं प्रामाणिकता की दृष्टि से पठनीय तथा संग्रहणीय हैं।

हमें यह देखकर सुखद आश्चर्य है कि प्रस्तुत कृति में निम्न 3 लेख - (1) कालद्रव्य : जैन दर्शन और विज्ञान (कुमार अनेकान्त जैन), (2) Eco-Rationality and Jaina Karma Theory (Krivov Sergui) तथा (3) क्लोनिंग तथा कर्म सिद्धान्त (अनिलकुमार जैन) अर्हत् वचन से साभार उद्धृत हैं तथा कई अन्य आलेखों की सामग्री का आधार अर्हत् वचन है। कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ परिवार डॉ. हीरालाल जैन के प्रति सदैव से बहुमान रखता है अत: उसके लिये यह गौरवपूर्ण है।

पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है किन्तु मूल्य कुछ अधिक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्हत् वचन
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर

जैन रामायणों में राम का स्वरूप

■ श्रीमती अनुपमा छाजेड़ *

श्रीमती अनुपमा छाजेड़ ने देवी अहिल्या वि.वि. के शोध केन्द्र कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर में पंजीकृत होकर 'जैन रामायणों में राम का स्वरूप' विषय पर प्रो. पुरुषोत्तम दुबे के मार्गदर्शन में हिन्दी विषय में Ph.D. उपाधि हेतु अपना शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया। दिनांक 19.12.2002 को कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ केन्द्र पर ही उनकी मौखिक परीक्षा भी सम्पन्न हुई।

सम्पादक

रामकथा प्राचीनकाल से ही जैन साहित्यकारों को प्रिय रही है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा कन्नड़ आदि क्षेत्रीय भाषाओं में रामकथा पर अनेक जैन ग्रन्थ उपलब्ध हैं। राम का एक नाम पद्म भी था। यही नाम जैन साहित्यकारों को अधिक प्रिय लगा। इसी आधार पर विमलसूरि ने प्राकृत में पउमचरियं, रविषेण ने संस्कृत में पद्मचरितम् तथा स्वयंभू ने अपभ्रंश में पउमचरिउ की रचना की।

जैन साहित्य/आगम अत्यधिक विशाल है। इनके चार अनुयोग हैं - (1) प्रथमानुयोग, (2) करणानुयोग, (3) चरणानुयोग तथा (4) द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग के अन्तर्गत 63 महान शलाका पुरुषों के पावन-चरित्रों का वर्णन कथात्मक ढंग से होता है। इनमें 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 नारायण, 9 प्रतिनारायण व 9 बलभद्र - इस प्रकार त्रिषष्ठि महान पुरुषों का जीवन चरित्र वर्णित होता है। इस वर्णन का उद्देश्य संसार में पाप की निकृष्टता, पुण्य की श्रेष्ठता तथा व्रत चारित्र सहित मोक्ष मार्ग पर आरूढ हो मोक्ष प्राप्ति का विवरण देना ही होता है। 'राम' इसी प्रथमानुयोग में वर्णित बलभद्र के रूप में जैन साहित्य में वर्णित हैं। वे एक महान एवं मोक्षगामी महापुरुष हैं।

जैन मान्यता के अनुसार रामचन्द्र भगवान मुनिसुव्रत के काल में हुए हैं। इनका चरित्र आदर्शमयी था। इनके आदर्श चरित्र को लेकर जैन धर्म में जैन रामायण या ग्रन्थों की रचना तीसरी शती ई. से निरन्तर सोलहवीं शती ई. तक होती रही है। इनकी प्रमुख दो धारायें थीं अर्थात् इनके दो अलग-अलग रूप थे - एक विमलसूरि के 'पउमचरियं' और रविषेण के 'पद्मचरित' की तथा दूसरी गुणभद्र के 'उत्तरपुराण' की।

दिगम्बर परम्परा में तीर्थंकर आदि के चरित्रों का प्राचीन संकलन नामावली के रूप में हमें प्राकृत भाषा के ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ती में मिलता है। विमलसूरि ने 'पउमचरियं' के उपोद्घात में लिखा है कि 'मैं, जो नामावली में निबद्ध है तथा आचार्य परम्परा से आगत है, ऐसा समस्त पद्मचरित आनुपूर्वी के अनुसार संक्षेप से कहता हूँ।' इससे यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि उन्होंने नामावली को मुख्याधार मानकर 'पउमचरियं' की रचना की। इसके अतिरिक्त आचार्य स्वयंभू कृत अपभ्रंश भाषा का पउमचरिउ तथा नागचन्द्र कृत कर्नाटक पद्मनारायण जैन परम्परा के श्रेष्ठ रामचरित हैं जो तिलोयपण्णत्ती पर आधारित हैं।

दूसरी धारा गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण की है। आचार्य गुणभद्र आचार्य जिनसेन के शिष्य थे। जिनसेन के विषय में 'कविपरमेश्वरनिगदतगद्यकथामतढकं पुरोश्चिरितम्' इस उल्लेख से यह स्पष्ट किया है कि आदिपुराण की रचना पूर्ण करने के पूर्व ही वे दिवंगत हो गये थे, अतः अवशिष्ट आदिपुराण तथा उत्तरपुराण की रचना उनके प्रबुद्ध शिष्य गुणभद्र ने की। बहुत कुछ संभव है कि गुणभद्र ने भी उत्तरपुराण की रचना करते समय कवि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमेश्वर के 'वागर्थ संग्रह पुराण' को ही आधारभूत माना हो पर आजकल वह रचना अप्राप्य है। इसलिये रामकथा की इस द्वितीय धारा के उपोद्घाटक के रूप में सर्वप्रथम गुणभद्र का ही नाम आता है।

दोनों रामकथाओं में अनेक मतों का अन्तर है। पहली धारा तो फिर भी अच्छी लगती है परन्तु दूसरी धारा कुछ अटपटी सी लगती है।

श्वेताम्बर परम्परा में तीर्थंकर आदि शलाका पुरुषों के जीवन सम्बन्धी कुछ तथ्यांश स्थानांग सूत्र में मिलते हैं जिसे आधार मानकर आचार्य हेमचन्द्र आदि ने त्रिषष्ठि महापुराण आदि की रचनाएँ की हैं। हेमचन्द्राचार्य कृत जैन रामायण, जो त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित का एक अंश है, इसी धारा के अनुरूप विकसित है। जिनदास कृत रामपुराण, पद्मदेव विजयगणि कृत रामचरित तथा कथाकोषों में आगत रामकथाएँ इन्हीं धारा में प्रवाहित हुई हैं।

प्रस्तुत कृति के प्रथम अध्याय में प्रस्तावना के रूप में राम के स्वरूप का उद्भव एवं विकास तथा पुराण साहित्य, प्रबन्ध काव्य, नाट्य साहित्य, हिन्दी साहित्य में अलग - अलग राम के स्वरूप का वर्णन प्रस्तुत किया है। पुराण साहित्य में हमने बाल्मीकि कृत रामायण, प्रबन्ध काव्य में गुप्त कृत साकेत, नाट्य साहित्य में प्रसिद्ध नाटककार भवभूति द्वारा रचित उत्तररामचरित तथा हिन्दी साहित्य में नरेन्द्र कोहली के उपन्यास अभ्युदय में हमने राम के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन प्रस्तुत किया है।

द्वितीय अध्याय में जैन रामायणों की उत्पत्ति तथा जैन रामायणों की सूची प्रस्तुत की है। इसमें हमने संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के आचार्य रविषेण, विमलसूरि एवं स्वयंभू की कृति क्रमशः पद्मचरित, पउमचरियं एवं पउमचरिउ का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया है तथा तृतीय अध्याय में इन्हीं जैन रामायणों में राम के व्यक्तित्व को विकास कथा के अनुरूप प्रस्तुत किया है।

चतुर्थ एवं पंचम अध्याय को हमने हमारे लक्ष्य के प्रमुख अध्याय माना है। फलतः संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश की एक - एक जैन रामायण, पद्मपुराण, पउमचरियं, पउमचरिउ जो कि क्रमशः आचार्य रविषेण, आचार्य विमलसूरि, आचार्य स्वयंभू के द्वारा रचित है, में राम के स्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर निष्कर्ष रूप में जैन रामायणों में राम का स्वरूप कैसा है, यह वर्णन प्रकट किया गया है। पंचम अध्याय में इन्हीं जैन रामायणों में राम के चरित्र के विशेष विभिन्न रूपों का जैसे - अवसरवादी रूप, जन कल्याणकारी रूप, समन्वयकारी रूप, मर्यादित रूप एवं शील, शांति एवं सौन्दर्य के प्रतीक राम का संक्षिप्त वर्णन लिखकर राम के सम्पूर्ण जीवन को प्रस्तुत करने की कोशिश की है।

षष्ठम अध्याय के प्रथम भाग में रामचरित मानस और हमारे लक्ष्य की तीनों जैन रामायणों के मध्य तुलनात्मक वैशिष्ट्य में पहले दोनों की कथा में अंतर प्रस्तुत करने के पश्चात् चरित्र चित्रण के आधार पर अंतर प्रस्तुत किया गया है। इसी के दूसरे खंड में वर्तमान में हिन्दी जगत को जैन लेखकों के अवदान में निहित राम के स्वरूप का संक्षिप्त विवेचन श्वे. परम्परा के जैन मुनि सूर्यमुनि द्वारा रचित श्री जैन रामायण में राम के स्वरूप के द्वारा प्रस्तुत किया है।

अंत में उपसंहार के रूप में जैन रामायणों का सामाजिक महत्व, उनका साहित्य में योगदान तथा शोध ग्रन्थ का निष्कर्ष लिखकर विराम दिया।

'रामत्व जहाँ हैं, वहीं संतुलित लोकतंत्र
गर्वमय समृद्धि – सुख शान्ति, राम का राजतंत्र'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इलाहाबाद वि.वि. में धर्म एवं संस्कृति संगोष्ठी सम्पन्न

3 सितम्बर 2002 को इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग में **पूज्य गणिनी प्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी** के मुख्य उद्बोधन के साथ 'धर्म एवं संस्कृति गोष्ठी' का भव्य आयोजन सम्पन्न हुआ। प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी एवं क्षुल्लक श्री मोतीसागरजी महाराज के सारगर्भित उद्बोधनों के साथ विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. ओमप्रकाश यादव (पूर्व विभागाध्यक्ष - प्राचीन इतिहास विभाग) का प्रभावक वक्तव्य हुआ। कार्यक्रम का सफल संचालन किया, डॉ. ओ. पी. श्रीवास्तव (प्रा. इति. विभाग) ने। सभाध्यक्ष थे वि.वि. के कला संकाय के डीन प्रो. ए. आर. एन. श्रीवास्तव (सम्प्रति विभागाध्यक्ष)। प्रो. गीतादेवी, डॉ. मृदुला रविप्रकाश (अध्यक्ष - दर्शन शास्त्र विभाग), प्रो. बी. डी. मिश्र, डॉ. एच. एन. दुबे, प्रो. हरिमोहन जैन, प्रो. के. जी. श्रीवास्तव (अंग्रेजी विभाग), डॉ. आर. डी त्रिपाठी, डॉ. अनामिका राय, डॉ. सुषमा श्रीवास्तव, प्रो. जे. के. जैन इत्यादि अनेक विश्वविद्यालयीन प्राध्यापकों ने पूज्य माताजी की अमृतवाणी को मंत्रमुग्ध होकर सुना। गृह सचिव - उ.प्र. श्री श्रीराम यादव ने भी इस अवसर पर अपने विचार व्यक्त किये। वि.वि. के विद्यार्थियों एवं जैन समाज के विशिष्टजनों सहित काफी संख्या में विद्वान श्रोतागण इस संगोष्ठी में उपस्थित रहे।

पूज्य गणिनी माताजी ने अपने मंगल उद्बोधन में कहा कि धर्म शाश्वत है जबकि सम्प्रदाय समय पर बनते बिगड़ते रहते हैं। वस्तुतः अहिंसा, संयम और तप ही धर्म हैं, जिन्हें धारण कर हम भी तीर्थंकर बन सकते हैं। अहिंसा से ही विश्वशांति संभव हो सकती है। संस्कृति संस्कार से निःसृत है। संस्कृति विकृत हो सकती है पर धर्म नहीं। पूज्य माताजी ने कहा कि विश्वविद्यालय सृजन के लिये हैं, विश्व को शांति का संदेश प्रदान करने के लिये हैं। इतिहास लेखकों को विविध धर्मों का इतिहास उनके धर्माचार्यों से वार्ता करके लिखना चाहिये ताकि किसी की भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचे। इस अवसर पर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ प्रयाग के अध्यक्ष कर्मयोगी ब्र. रवीन्द्रकुमार जैन की ओर से वि.वि. को साहित्य रखने हेतु एक आलमारी तथा पूज्य माताजी द्वारा लिखित साहित्य भेंट किया गया।

इस प्रभावक संगोष्ठी की वि.वि. में काफी प्रशंसा की गयी। सुधी श्रोताओं का कहना था कि संत बिनोबा भावे के पश्चात आज किसी महान संत के चरण वि.वि. परिसर में पड़े हैं, यदि इसी प्रकार के मंगल उद्बोधन छात्रों को समय - समय पर प्राप्त होते रहें तो उनका जीवन एवं आचरण सुधर सकता है।

■ ब्र. (कु.) स्वाति जैन, संघस्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन शिक्षक छात्रों को संस्कारित करने का दायित्व निभायें

— साध्वी चन्दनाजी

''जैन शिक्षक अपने अध्यापन कार्य के साथ साथ अपने छात्रों को भारतीय संस्कृति के वैशिष्ट्यों, अहिंसा, अपरिग्रह एवं अनेकान्त जैसे सार्वभौमिक सिद्धान्तों की प्रासंगिकता, मांसाहार एवं मद्यपान के दुष्प्रभावों की जानकारी दें। महिला प्राध्यापिकाएँ युवतियों को भ्रूण हत्या के घातक परिणामों के प्रति सचेत करें।'' उक्त विचार साध्वी श्री चन्दनाजी ने श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ (पूर्वी क्षेत्र) द्वारा 10 नवम्बर 2002 को जैन स्थानक, महावीर नगर में आयोजित जैन शिक्षक सम्मेलन में व्यक्त किये। इन्दौर नगर में प्रथम बार आयोजित इस सम्मेलन को साध्वी श्री अक्षय ज्योतिजी ने भी सम्बोधित किया। सम्मेलन की अध्यक्षता प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डॉ. जयन्तीलाल भंडारी ने की। मुख्य वक्ता प्रसिद्ध विचारक प्रो. अरविन्द मारू रहे। सभा को प्रो. हर्षेन्द्रकुमार जैन, प्राचार्य - इस्वा कॉलेज, डॉ. (कु.) सरोज कोठारी, डॉ. अनुपम जैन एवं प्रो. उदय जैन ने भी सम्बोधित किया।

प्रो. धाकड़

25 वरिष्ठ प्राध्यापकों एवं प्राचार्यों की उपस्थिति में सर्वानुमति से निर्णय लिया गया कि इन्दौर नगर के विद्यालयों/महाविद्यालयों/तकनीकी शिक्षण संस्थानों में कार्यरत शिक्षकों अथवा नगर में निवासरत शिक्षकों का एक समूह गठित किया जाये जो परस्पर सहयोग कर अपने शिष्यों को अधिकाधिक लाभ पहुँचा सके। यह समूह देश - विदेश में फैली जैन प्रतिभाओं से सम्पर्क कर उनकी प्रतिभा/क्षमता का उपयोग जैन संस्कृति के प्रसार, नैतिक मूल्यों के विकास, जैन साहित्य के पठन - पाठन/अध्ययन एवं अनुसंधान कार्यों को विकसित करने में भी करें। सर्वानुमति से प्रो. नरेन्द्र धाकड़ को समूह का संयोजक मनोनीत किया गया। वे समूह के नामकरण, सदस्यता आदि के सन्दर्भ में आगे की कार्यवाही करेंगे। प्रो. जयन्तीलाल भंडारी एवं प्रो. एस. के. बंडी उनको सहयोग करेंगे।

डॉ. अनुपम जैन के आमंत्रण पर नवगठित समूह का प्रथम सम्मेलन 14 जनवरी 2003 को कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर में आयोजित करने का निश्चय किया गया। कार्यक्रम में डॉ. गीता जैन, डॉ. कुसुम जैन, प्रो. दीपक मेहता, श्रीमती इन्दिरा जैन, डॉ. संदीप नानावटी, प्रो. कन्हैयालाल बोलिया, प्रो. अंगूरबाला बाफना, प्रो. कल्पना मेघावत, प्रो. प्रमिला खाबिया, श्रीमती बिन्दु गांधी, प्रो. एम. के. लालन, प्रो. ए. एस. कोठारी, प्रो. वी. के. नाहर एवं प्रो. कल्पना बंडी भी उपस्थित रहीं।

■ डॉ. अनुपम जैन

श्री मांगीलालजी पहाड़े, हैदराबाद का 17.10.2002 को निधन

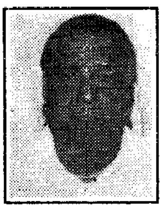

स्व. मांगीलालजी पहाड़े का जीवन धार्मिक व सामाजिक गतिविधियों में हैदराबाद ही नहीं, पूरे देश की दिगम्बर जैन संस्थाओं से जुड़ा हुआ था। वे श्रवणबेलगोला में 12 वर्ष में एक बार होने वाले भगवान बाहुबली के महामस्तकाभिषेक समारोह के सदैव कार्यकारी सदस्य रहे। भट्टारकजी श्री चारूकीर्ति स्वामीजी के पिछले कई वर्षों से निरन्तर सम्पर्क में रहे। पिछले महामस्तकाभिषेक के पूर्व श्री पहाड़ेजी ने श्रवणबेलगोला में अतिथि गृह का निर्माण भी कराया। दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर की प्रेरिका गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी के वे अनन्य भक्त थे। बरसों तक उनकी जन्म जयंती पर उनकी ओर से सहभोज का कार्यक्रम रहता था एवं वहाँ पर होने वाले पंचकल्याणक महोत्सव में भी उनका पूर्ण सहयोग रहा। हस्तिनापुर में इन्द्रध्वज महामण्डल विधान का कई बार उनकी ओर से आयोजन किया गया।

उनके निधन से समाज को अपूरणीय क्षति हुई है। कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ परिवार की हार्दिक श्रद्धांजलि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन मन्दिर बरगीनगर के पुनर्निर्माण हेतु रु. 23.80 लाख की राशि स्वीकृत

प्रदेश के माननीय मुख्यमंत्री श्री दिग्विजयसिंहजी चेम्बर ऑफ कामर्स, ग्वालियर में ठहरे जैन मुनि पुलकसागरजी महाराज से भेंट करने हेतु प्रदेश के पूर्व मंत्री एवं म.प्र. तिलहन संघ के अध्यक्ष श्री भगवानसिंह यादव के साथ गये और श्रीफल भेंटकर आशीर्वाद प्राप्त किया। मुख्यमंत्री ने 5 दिसम्बर से आहूत त्रय गजरथ महोत्सव में पूर्ण सहयोग और उसे सफल बनाने का संकल्प व्यक्त किया।

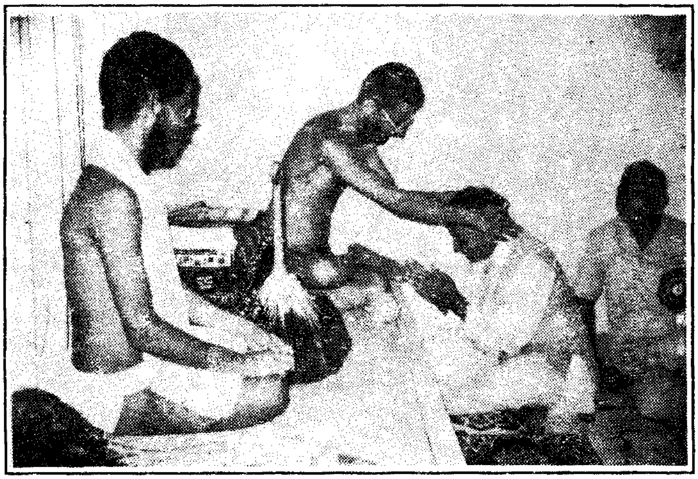

प्रदेश के माननीय मुख्यमंत्री श्री दिग्विजयसिंहजी को आशीर्वाद देते हुए 108 पूज्य मुनिश्री पुलकसागरजी महाराज। समीप ही है म. प्र. शासन के पूर्व मंत्री तथा म. प्र. तिलहन संघ के अध्यक्ष श्री भगवानसिंह यादव

मुनिश्री पुलकसागरजी महाराज ने मुख्यमंत्री जी को अवगत कराया कि लगभग 17 वर्ष पूर्व ग्राम भिडकी में बरगीनगर, जबलपुर स्थित 200 वर्ष पुराना दिगम्बर जैन मन्दिर रानी अवंतीबाई सागर परियोजना के कारण डूब में आ गया था। उक्त मन्दिर के ऐतिहासिक महत्व को दृष्टिगत रखते हुए शासन द्वारा मुआवजे के बदले में जैन मन्दिर का पुनर्निमाण करने हेतु राशि रुपये 23.80 लाख की स्वीकृति का ठहराव वर्ष 1985 में किया था और 3 जुलाई 1996 में उक्त मन्दिर के निर्माण हेतु राशि की स्वीकृति के आदेश दिये थे, परन्तु आज तक अनुदान राशि प्राप्त न होने से मन्दिर का निर्माण प्रारम्भ नहीं हो सका है। इस पर मुख्यमंत्रीजी ने पूज्य मुनिश्री को आश्वस्त किया कि वे इस संबंध में शीघ्र ही ठोस पहल करेंगे। प्राप्त सूचनानुसार उपमुख्यमंत्री एवं सिंचाई मंत्री श्री सुभाष यादव के सकारात्मक सहयोग से यह राशि जारी की जा चुकी है।

भगवान महावीर फाउण्डेशन द्वारा महावीर अवार्ड के नामों की घोषणा

भगवान महावीर फाउन्डेशन की महावीर अवार्ड चयन समिति की बैठक भूतपूर्व प्रमुख न्यायाधीश न्यायमूर्ति श्री वैंकटचेलय्याजी की अध्यक्षता में बैंगलोर में सम्पन्न हुई। वीरायतन के आचार्य श्री चन्दनाजी, श्री डी. आर. मेहता (भूतपूर्व अध्यक्ष - सेबी) व डॉ. बी. एम. हेगड़े (उपकुलपति - मनिपाल वि.वि.) भी इस बैठक में उपस्थित थे। फाउन्डेशन की ओर से न्यासी श्री एन. सुगालचन्द जैन, श्री जी. एन. दम्माणी, श्री पी. वी. कृष्णमूर्ति व श्री बी. उत्तमचन्द भंडारी उपस्थित थे। चयन समिति ने गहन विचार विमर्श के बाद **(1) मरूधर महिला शिक्षण संस्थान**, विद्यावाड़ी, किमेल, स्टेशन रानी जिला पाली (राजस्थान) तथा **(2) विवेकानन्द राक मेमोरियल एवं विवेकानन्द केन्द्र**, कन्याकुमारी (तमिलनाडु) का शिक्षा के क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्य के लिये तथा **(3) डॉ. एस. वी. आदीनारायणराव**, डाइरेक्टर जनरल, प्रेमा हास्पिटल, 14 - 3 - 18, महाराणी पेटा, विशाखापट्नम (आंध्र प्रदेश) का सामाजिक सेवा के क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्य के लिये महावीर अवार्ड हेतु चयन किया है।

महावीर अवार्ड में भगवान महावीर की मूर्ति, प्रशस्तिपत्र व पाँच लाख रुपये नगद देने का प्रावधान है। अवार्ड शीघ्र दिया जायेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्वत् महासंघ पुरस्कार - 2002 की घोषणा

तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ द्वारा 2000 में निम्नांकित 2 पुरस्कारों की स्थापना की गई थी। इन पुरस्कारों के अन्तर्गत रु. 11,000/- की नगद राशि, शाल, श्रीफल एवं प्रशस्ति से सम्मानित किया जाता है। वर्ष 2000 एवं 2001 में सम्मानित विद्वानों का विवरण निम्नवत् है -

1. **स्व. चन्दारानी जैन, टिकैतनगर स्मृति विद्वत् महासंघ पुरस्कार**
   2000 - श्रीमती सुमन जैन, सम्पादिका - ऋषभ देशना, इन्दौर
   2001 - डॉ. दयाचन्द जैन साहित्याचार्य, सागर
   पं. जयसेन जैन, सम्पादक - सन्मति वाणी, इन्दौर
2. **सौ. रूपाबाई जैन, सनावद स्मृति विद्वत् महासंघ पुरस्कार**
   2000 - डॉ. संजीव सराफ, पुस्तकालयाध्यक्ष, सागर
   प्रो. के. के. जैन, स. प्राध्यापक, राजनीति शास्त्र, बीना
   2001 - पं. शिखरचन्द जैन, सागर
   पं. शीतलचन्द्र जैन, सागर

उक्त दोनों पुरस्कारों हेतु वर्ष 2002 के लिये क्रमशः **(1) पं. लालचन्द जैन 'राकेश', पूर्व प्राचार्य गंजबासौदा** तथा **(2) श्री रमेश कासलीवाल, सम्पादक - वीर निकलंक, इन्दौर** को चुना गया है। पुरस्कार समर्पण समारोह संभवतः कुण्डलपुर (नालंदा) में आयोजित किया जायेगा।

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ परिवार की ओर से हार्दिक बधाई।

■ **डॉ. अनुपम जैन, महामंत्री**

अहिंसा इन्टरनेशनल पुरस्कारों हेतु नाम आमंत्रित

प्रतिवर्षानुसार अहिंसा इन्टरनेशनल द्वारा वर्ष 2002 के निम्न पुरस्कारों के लिये प्रस्ताव आमंत्रित है -

1. **अहिंसा इन्टरनेशनल डिप्टीमल आदीश्वरलाल जैन साहित्य पुरस्कार (राशि 31,000/-)**
   जैन साहित्य के विद्वान को उनके समग्र साहित्य अथवा एक कृति की श्रेष्ठता के आधार पर लिखित पुस्तकों की सूची तथा 2 श्रेष्ठ पुस्तकें भेजें।
2. **अहिंसा इन्टरनेशनल भगवानदास शोभालाल जैन शाकाहार पुरस्कार (राशि 21,000/-)**
   शाकाहार प्रसार के क्षेत्र में कार्य कर रहे कर्मठ कार्यकर्ता को उनके कार्य की श्रेष्ठता के आधार पर।
3. **अहिंसा इन्टरनेशनल रघुवीरसिंह जैन जीव रक्षा पुरस्कार (राशि 21,000/-)**
   जीव रक्षा के क्षेत्र में कार्य कर रहे कर्मठ कार्यकर्ता को उनके कार्य की श्रेष्ठता के आधार पर।
4. **अहिंसा इन्टरनेशनल प्रेमचन्द जैन पत्रकारिता पुरस्कार (राशि 21,000/-)**
   रचनात्मक जैन पत्रकारिता की श्रेष्ठता के आधार पर।

नाम का सुझाव स्वयं लेखक/कार्यकर्ता/संस्था अथवा अन्य व्यक्ति द्वारा 31 जनवरी 2003 तक निम्न पते पर लेखक/कार्यकर्ता/पत्रकार के पूरे नाम व पते, जीवन परिचय, संबंधित क्षेत्र में कार्य विवरण सहित व पासपोर्ट आकार के 2 फोटो सहित आमंत्रित हैं। पुरस्कार नई दिल्ली में भव्य समारोह में भेंट किये जायेंगे।

■ **प्रदीपकुमार जैन, सचिव**

4687, उमराव गली, पहाड़ी धीरज, **दिल्ली** - 110 006

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुम्बई वि. वि. द्वारा दिनेशभाई मोदी पुरस्कार 2002 हेतु निबन्ध आमंत्रित

मुम्बई विश्वविद्यालय द्वारा दिनेशभाई मोदी पुरस्कार - 2000 के लिये **' महात्मा गांधी के जीवन में श्रीमद् राजचन्द्र का आध्यात्मिक प्रभाव'** विषय पर निबन्ध आमंत्रित हैं। निबन्ध गुजराती, हिन्दी, मराठी या अंग्रेजी में टाईप किया अुआ अथवा हाथ से लिखित फुल स्केप कागज के 40 पृष्ठों से अधिक का नहीं होना चाहिये।

प्रत्येक निबन्ध के सीलबन्द लिफाफे के ऊपर लेखक के हस्ताक्षर युक्त एक प्रमाण पत्र होना चाहिये कि यह लेख उनका स्वलिखित निबन्ध है। साथ ही लिफाफे पर पुरस्कार का नाम, वर्ष तथा निबन्ध का नाम लिखित होना चाहिये।

लेख भेजने का पता -

उपरजिस्ट्रार, मुम्बई.वि.वि., स्कालरशिप सेक्शन,
कमरा नं. 35, प्रथम मंजिल, महात्मा जोतीराव फूले भवन,
विद्यानगरी, कलिना केम्पस, सांताक्रुज (पूर्व),
मुम्बई - 400 098।

बधाई

डॉ. सुरेशचन्द जैन
दिल्ली

'जैन प्रचारक' के सम्पादक एवं वरिष्ठ विद्वान डॉ. सुरेशचन्द्र जैन (दिल्ली) को क्षु. गणेशप्रसाद वर्णी स्मृति पुरस्कार तथा डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन (सनावद) को उनकी शोध कृति 'जैन दर्शन में रत्नत्रय का स्वरूप' पर गुरु गोपालदास बरैया स्मृति पुरस्कार से अ. भा. दि. जैन विद्वत् परिषद के बिजौलिया अधिवेशन में 15 - 17 अक्टूबर 2002 के मध्य सम्मानित किया गया। सम्मान के अन्तर्गत रु. 5,101/- की राशि एवं प्रशस्ति प्रदान की गई।

डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन
सनावद

पूज्य मुनि श्री सुधासागरजी महाराज के मंगल सान्निध्य में सम्पन्न इस कार्यक्रम का संचालन डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर एवं संयोजन डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन 'भारती', बुरहानपुर ने किया।

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ द्वारा पत्रिका का प्रकाशन

जैन दर्शन विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ (मान्य विश्यविद्यालय), नई दिल्ली - 16 द्वारा एक पत्रिका का प्रकाशन किया जा रहा है। सभी विद्वानों/शोधार्थियों से निवेदन है कि इन दिनों यदि वे जैन विद्या या प्राकृत भाषा से सम्बन्धित किसी भी विधा में, किसी भी विश्वविद्यालय में अथवा विभाग में अथवा व्यक्तिगत रूप से कोई भी महत्वपूर्ण शोधकार्य, सम्पादन अथवा अनुवाद कार्य कर रहे हों तो उसकी परिचयात्मक पूर्ण व प्रामाणिक जानकारी हमारे पास शीघ्र भेजें। हम उसे प्रकाशित करके गौरव का अनुभव करेंगे। प्रमाण हेतु अपने शोध निर्देशक का प्रमाण - पत्र व सम्पर्क हेतु अपना पूरा नाम, पता, ई - मेल व फोन नम्बर भी भेजें।

■ **डॉ. अनेकान्त कुमार जैन**
सह - सम्पादक, व्याख्याता - जैन दर्शन विभाग,
श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ (मान्य विश्वविद्यालय),
कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र, **नई दिल्ली - 16**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुत संवर्द्धन पुरस्कार समर्पण समारोह

1996 में औपचारिक रूप से मेरठ में स्थापित श्रुत संवर्द्धन संस्थान ने अपनी स्थापना के विचार के प्रारम्भिक चरण में ही विद्वत्जनों का सम्मान करना प्रारम्भ कर दिया था। संस्थान के प्रेरणास्रोत **परम पूज्य उपाध्यायरत्न श्री ज्ञानसागरजी महाराज** की विद्वानों को सम्मानित कराने में विशेषरूचि को दृष्टिगत कर संस्थान ने 5 वार्षिक श्रुत संवर्द्धन पुरस्कारों की स्थापना की है। प्रत्येक पुरस्कार के अन्तर्गत रु. 31,000/- की नगद राशि, शाल, श्रीफल एवं प्रशस्ति प्रदान की जाती है। वर्ष 1991 (2), 1997 (4), 1998 (5), 1999 (5), 2000 (5), 2001 (5) में कुल 26 विद्वानों को सम्मानित किया गया। वर्ष 2002 के पुरस्कारों से निम्नवत् 5 विद्वानों को **12 दिसम्बर 2002** को आगरा में सम्मानित किया गया -

1. **आचार्य शांतिसागर छाणी स्मृति श्रुत संवर्द्धन पुरस्कार - 2002**
   पं. सागरमल जैन, दुर्गा चौक, तलैया, भारती टेलर्स के सामने, विदिशा - 464001 (म.प्र.)।
2. **आचार्य सूर्यसागर स्मृति श्रुत संवर्द्धन पुरस्कार - 2002**
   पं. लालचन्द्र जैन 'राकेश', नेहरू चौक, गली नं. 4, गंजबासौदा - 464001 (म.प्र.)।
3. **आचार्य विमलसागर (भिण्ड) स्मृति श्रुत संवर्द्धन पुरस्कार - 2002**
   श्री पारसदास जैन, 10, अंसारी रोड़, दरियागंज, दिल्ली।
4. **आचार्य सुमतिसागर स्मृति श्रुत संवर्द्धन पुरस्कार - 2002**
   डॉ. कमलेशकुमार जैन, बी. 2/249, रवीन्द्रपुरी, वाराणसी - 221005 (उ.प्र.)।
5. **मुनि वर्द्धमानसागर स्मृति श्रुत संवर्द्धन पुरस्कार - 2002**
   श्रीमती माधुरी जैन, 1137, संघीजी का रास्ता, किशनपोल बाजार, जयपुर - 3।

अप्रैल 2000 में रु. 1,00,000/- की सम्मान राशि सहित **उपाध्याय ज्ञानसागर श्रुत संवर्द्धन पुरस्कार** की स्थापना की गई। वर्ष 2001 का पुरस्कार समाज सेवा के क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्य हेतु धर्मस्थल के धर्माधिकारी **राजर्षि डॉ. डी. वीरेन्द्र हेगड़े** को 18 दिसम्बर 2002 को पूज्य उपाध्यायश्री के ससंघ सान्निध्य में आगरा में समर्पित किया गया। श्री हेगड़े ने पुरस्कार चयन समिति एवं संस्थान के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए कहा कि श्रुत संवर्द्धन संस्थान का कार्य आप लोग बहुत अच्छे ढंग से कर रहे हैं। अतः मैं यह राशि एवं प्रशस्ति स्वीकार कर धर्मस्थल ले तो जा रहा हूँ किन्तु यह राशि हम आपको ससम्मान प्रत्यार्पित कर देंगे।

संस्थान द्वारा संचालित रु. 25,000/- राशि के सराक पुरस्कार से इस वर्ष (2002 में) **श्री विनयकुमार जैन, दिल्ली** को सम्मानित किया गया। उन्होंने भी यह राशि अपनी ओर से घोषित राशि सहित सराकोत्थान के कार्य में खर्च करने की घोषणा की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मत - अभिमत

अर्हत् वचन का वर्ष 14, अंक 2-3 (संयुक्तांक) प्राप्त हुआ। इस अंक को पाकर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। इसमें आपने बहुत महत्वपूर्ण सामग्री संकलित की है, विशेष रूप से जैन गणित के सम्बन्ध में। जैन गणित पर जिस किसी को कार्य करना हो, उसके लिए; आप तो मार्गदर्शक होंगे ही, इस अंक में जिन लेखों/लेखकों की सूची आपने प्रकाशित की है (हिन्दी, अंग्रेजी दोनों में) तथा जो अन्य शोधपरक लेख प्रकाशित किये हैं, वे बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। मैं आपको इस अंक के प्रकाशन के लिये हार्दिक बधाई देता हूँ। आप वास्तव में जैन विज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से एक मार्गदर्शक स्तंभ के रूप में स्थापित हो गये हैं।

मैं कामना करता हूँ कि आप इसी प्रकार प्रगति पथ पर बढ़ते रहें और गणित एवं अन्य तकनीकी/वैज्ञानिक विषयों में जैनाचार्यों के योगदान को जैन और सम्पूर्ण विश्व समाज के सम्मुख रख सकें।

15.11.02

■ **डॉ. विमल प्रकाश जैन**

निदेशक - भोगीलाल लहेरचन्द प्राच्य विद्या संस्थान, **दिल्ली** - 110 036

आपके द्वारा प्रेषित अर्हत् वचन वर्ष 14, अंक (2-3) प्राप्त हुआ। भविष्य में भी इससे लाभान्वित करते रहेंगे, ऐसी आशा है।

गणित विषय के लेख समादरणीय एवं ज्ञानवर्द्धक हैं। काल विषयक महत्वपूर्ण लेख भी पठनीय है। डॉ. स्नेहरानी जैन ने वैज्ञानिक काल का संग्रह कर पाठकों का उपकार किया है। लेकिन पता नहीं किसी दृष्टिकोण से उन्होंने काल को बहुप्रदेशी कहा? यदि काल बहुप्रदेशी होता तो पाँच अस्तिकाय की अवधारणा जैन दर्शन में नहीं होती। जैन दर्शन काल को अस्तिकाय नहीं मानता है क्योंकि वह बहुप्रदेशी नहीं है। काल को प्रदेश मात्र माना गया है। अर्हत् वचन पठनीय एवं संग्रहणीय है।

18.11.02

■ **डॉ. लालचन्द जैन**

द्वारा - डॉ. जैनमतीजी जैन, श्री जैन बाला विश्राम, घरहरा, **आरा** (बिहार)

अर्हत् वचन का नया अंक **14** (2-3) बहुत प्रभावी है। सामग्री की प्रचुर समृद्धि स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है। बधाई स्वीकार करें।

'आगम का प्रकाश - जीवन का विकास' स्तम्भ में लेखकों की रचनाओं का आमंत्रण उपयोगी सिद्ध होगा।

12.12.02

■ **प्रो. पारसमल अग्रवाल**

ओक्लाहोमा स्टेट यूनिवर्सिटी, **ओक्लाहोमा** (अमेरिका)

अर्हत् वचन की प्रतिष्ठा तकनीकी दृष्टि से सम्पुष्ट प्राकृत एवं जैन विद्या के प्रसंगों को रेखांकित करने के कारण बढ़ी है। कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ की शोध पत्रिका अर्हत् वचन में ऐसे अनेक लेख विगत दो वर्षों में छपे हैं जो जैन गणित और विभिन्न आधुनिक विज्ञान की मान्यताओं के साथ समीकृत किये जा सकते हैं। अंकगणित, बीजगणित और रेखागणित के सारे सिद्धान्त कर्मवाद और सृष्टि संरचना के प्रसंगों में दिखाई पड़ते हैं। जैनियों ने अपने गणितीय आधार के लिये स्वयं की तकनीकी शब्दावली का प्रयोग किया है, जिसे अन्यत्र नहीं ढूंढा जा सकता है। इस प्रकार जैन गणित की उपलब्धियों से विश्व को परिचित कराना आधुनिक लेखकों का दायित्व है। प्रो. एल. सी. जैन, डॉ. आर. सी. गुप्ता, डॉ. अनुपम जैन, डॉ. परमेश्वर झा सदृश अनेक विद्वान इस दिशा में प्रयत्नशील हैं।

■ **डॉ. राजेन्द्र त्रिवेदी**

रीडर - संस्कृत विभाग, रानी दुर्गावती वि.वि., **जबलपुर** (म.प्र.)

(व्याख्यान का अंश)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हमारे पुराण, श्रावकाचार, यत्याचार, कर्म सिद्धान्त आदि की युक्तियुक्त समीक्षा की आवश्यकता हर विचारशील जैन को महसूस होती होगी, ऐसा मेरा सोच है। पिछले 30 - 40 वर्षों में पी-एच.डी., डी.लिट्, विद्यावारिधि आदि उपाधियों के लिये 1000 - 1500 शोध प्रबन्ध लिखे गये हैं। काफी संख्या में इसके अलावा भी छोटी - बड़ी पुस्तकें छपी हैं। पचासों संस्थानों में पचासों विद्वानों के निर्देशन में जैन विद्या का उच्चस्तरीय अध्ययन हो रहा है। बढ़ती हुई संख्या में जैन पत्रिकायें छप रही हैं। हमारे संसाधन - विद्वान (जिनकी आजीविका जैन विद्या के अध्ययन/अध्यापन, धार्मिक, सामाजिक क्रियाओं पर निर्भर करती) अर्थ आदि सीमित हैं, उसका सही तथा अधिकाधिक उपयोग सुनिश्चित करने के लिये एक समीक्षा की आवश्यकता है।

शुरूआत एक 1 - 2 दिवसीय विद्वत् गोष्ठी से की जाये। **स्थान** - श्रीमहावीरजी ध्यान केन्द्र, **आयोजक** - महासभा, महासमिति या जैन विद्या संस्थान श्रीमहावीरजी, **समय** - चैत्र शुक्ला 15 (भगवान पद्मप्रभु का केवलज्ञान दिवस) रखा जा सकता है। इसकी सूचना जैन पत्रों (गजट, संदेश, पत्रिका) द्वारा तथा आवश्यकतानुसार पत्रों द्वारा विद्वत् परिषद, शास्त्री परिषद, संस्थान, जहाँ जैन विद्या का उच्चस्तरीय अध्ययन/अध्यापन होता है, को प्रसारित की जाये।

जो विद्वान उसमें योगदान कर सकें, वे अपना परिचय, शिक्षा (लौकिक, धार्मिक), आजीविका/व्यवसाय, लेखन, अध्ययन, अध्यापन का विवरण आयोजक को माघ पूर्णिमा तक उपरोक्त विषय पर अपने विचार, जिसमें प्राचीन शास्त्रों में वर्णित विषयों, जिन पर अध्ययन की आवश्यकता है तथा (1) अध्ययन के लिये विद्वान का योगदान, (2) संस्थान जहाँ अध्ययन होगा, उसकी युक्तियुक्त उपयुक्तता, (3) अर्थ तथा अन्य सहयोग की आवश्यकता, (4) योग्य अध्येताओं की आवश्यकता तथा (5) उनकी समर्पित रूचि के बारे में राय/रूचि जागरण की संभावना तथा उपाय आदि पर विचार हों, भेज दें। आमंत्रित विद्वान अपने आलेख की 3 प्रतियाँ फाल्गुन पूर्णिमा तक आयोजक को भेज दें ताकि उसकी प्रति आमंत्रित विद्वानों को अध्ययनार्थ भेजी जा सके।

9.12.02 ■ **पी. सी. जैन, कोलकाता - 1**

उत्तम वातावरण, शोध की दृष्टि से बहुत प्रशंसनीय सुविधाएँ, निरन्तर विकसित हो। शुभकामनाएँ।

19.12.02 ■ **डॉ. राजेन्द्र मिश्र**

प्राचार्य - शासकीय महाविद्यालय, बालाजी अपार्टमेन्ट, स्नेहलतागंज, **इन्दौर** - 452 004

कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ में शोध से सम्बद्ध अत्याधुनिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं। श्रेष्ठ ग्रन्थालय का होना इसे श्रेष्ठ संस्थानों में सम्मिलित करता है। शुभकामनाएँ।

19.12.02 ■ **प्रो. प्रहलाद तिवारी**

विभागाध्यक्ष - गणित, शासकीय होल्कर स्वशासी विज्ञान महाविद्यालय, **इन्दौर** - 452 017

बहुत अच्छा वातावरण।

19.12.02 ■ **प्रो. नवीन जैन**

पूर्व निदेशक - कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, **इन्दौर**

आवश्यक सूचना

अर्हत् वचन का वर्ष 15, अंक - 1, जनवरी - मार्च 2003 जनवरी 2003 में प्रकाश्य है। जिन माननीय सदस्यों का सदस्यता शुल्क बकाया है उन्हें पत्र भेजे जा चुके हैं। कृपया बकाया राशि शीघ्र भेजने का कष्ट करें। सदस्यता शुल्क बकाया होने की स्थिति में वर्ष 15 के अंक भेजना संभव नहीं होगा। आशा है कि आपका सहयोग हमें यथावत अवश्य प्राप्त होगा।

प्रकाशक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेखकों हेतु संदेश

1. अर्हत् वचन में जैन धर्म/दर्शन के वैज्ञानिक पक्ष तथा जैन इतिहास एवं पुरातत्त्व से संबंधित मौलिक, शोधपूर्ण एवं सर्वेक्षणात्मक आलेखों को प्रकाशित किया जाता है।
2. शोध की गुणात्मकता एवं मौलिकता के संरक्षण हेतु दो प्राध्यापकों अथवा पारम्परिक विषय विशेषज्ञों से परीक्षित करा लेने के उपरान्त ही आलेख अर्हत् वचन में प्रकाशित किये जाते हैं।
3. शोध आलेखों के अतिरिक्त संक्षिप्त टिप्पणियां, अकादमिक संगोष्ठी/सम्मेलनों की सूचनाएँ/आख्याएँ, आलेख एवं पुस्तक समीक्षाएँ, विशिष्ट गतिविधियां, विशिष्ट अकादमिक पुरस्कारों एवं प्रकाशनों की सूचनाओं को भी प्रकाशित किया जाता है।
4. अर्हत् वचन में प्रकाशित किये जाने वाले समस्त लेख इस अपेक्षा से प्रकाशित किये जाते हैं कि वे न तो पूर्व प्रकाशित हैं एवं न अन्यत्र प्रकाशनार्थ प्रेषित हैं। यदि पूर्व प्रेषित कोई लेख अन्यत्र प्रकाशित हो चुका है तो माननीय लेखकों को इसकी सूचना हमें तत्काल अवश्य भेजनी चाहिये।
5. लेखकगण यदि किसी पुस्तक या लेख से सन्दर्भ ग्रहण करते हैं तो उन्हें सम्बद्ध लेख/पुस्तक का पूर्ण सन्दर्भ देना चाहिये। विस्तृत अनुदेश इसी अंक में पृ. 116 पर प्रकाशित हैं। कृपया अनुदेशों के अनुरूप ही सन्दर्भ देने का कष्ट करें।
6. लेखकगण अपने आलेख की दो प्रतियाँ टंकित या सुवाच्य हस्तलिपि में एक पृष्ठीय सारांश सहित भेजने का कष्ट करें। प्रथम पृष्ठ पर लेख का शीर्षक, लेखक/लेखकों के नाम एवं पत्राचार के पूर्ण पते होने चाहिये। अन्दर के पृष्ठों पर लेखक/लेखकों के नाम न दें।
7. लेख के साथ लेख के मौलिक एवं अप्रकाशित होने का प्रमाण पत्र अवश्य संलग्न करें एवं अर्हत् वचन में प्रकाशन के निर्णय होने तक अन्यत्र प्रकाशनार्थ न भेजें।

■ **डॉ. अनुपम जैन**
सम्पादक - अर्हत् वचन
मानद् सचिव - कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ
584, म. गांधी मार्ग, तुकोगंज, **इन्दौर** - 452001
फोन : 0731-2545421, 2787790

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

General Instructions and Informations for Contributors

1. Arhat Vacana publishes original papers, reviews of books & essays, summaries of Disertations and Ph.D. Thesis, reports of Meetings/Symposiums/Seminars/Conferences, Interviews etc.
2. Papers are published on the understanding that they have been neither published earlier and nor have been offered to any journal for publication.
3. The manuscript (in duplicate) should be sent to the following address -

   Dr. Anupam Jain
   Editor - Arhat Vacana
   Kundakunda Jñānapīṭha,
   584, M. G. Road, Tukoganj,
   INDORE - 452001 INDIA

4. The manuscript must be typed on one side of the durable white paper, in double spacing and with wide margin. The title page should contain the title of the paper, name and full address of the author.
5. The author must provide a short abstract in duplicate, not exceeding 250 words, summarising and highlighting the principal findings covered in the paper.
6. Foot-notes should be indicated by superior number running sequentially through the text. All references should be given at the end of the text. The following guidelines should be strictly followed -

   (i) References to books should include author's full name, complete and unabbreviated title of the book (underlined to indicate italics), volume, edition (if necessary), publisher's name, place of publication, year of publication and page number cited. For example - Jain, Laxmi Chandra, Exact Sciences from Jaina Sources, Basic Mathematics, Vol. - 1, Rajasthan Prakrit Bharati Sansthan, Jaipur. 1982, pp. XVI + 6.

   (ii) References to articles in periodicals should mention author's name, title of the article, title of the periodical, underlined volume, issue number (if required), page number and year. For example - Gupta, R.C., Mahāvirācārya on the Perimeter and Area of Elipse, The Mathematics Education, 8 (B), PP. 17-20, 1974.

   (iii) In case of similar citations, full reference should be given in the first citation. In the succeeding citation abbreviated version of the title and author's name may be used. For example - Jain, Exact Sciences, PP. 45 etc.

7. Line sketches should be made with black ink on white board of tracing paper. Photographic prints should be glossy with strong contrast.
8. Acknowledgements, if there be, are to be placed at the end of the paper, just before reference.
9. Only ten copies of the reprints will be given free of charge to those authors, who subscribe. Additional copies, on payment, may be ordered as soon as it is accepted for publication.
10. Devanāgarī words, if written in Roman Script, should be underlined.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अग्निहोत्र विशेषज्ञ श्री बसंत परांजपे कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ में

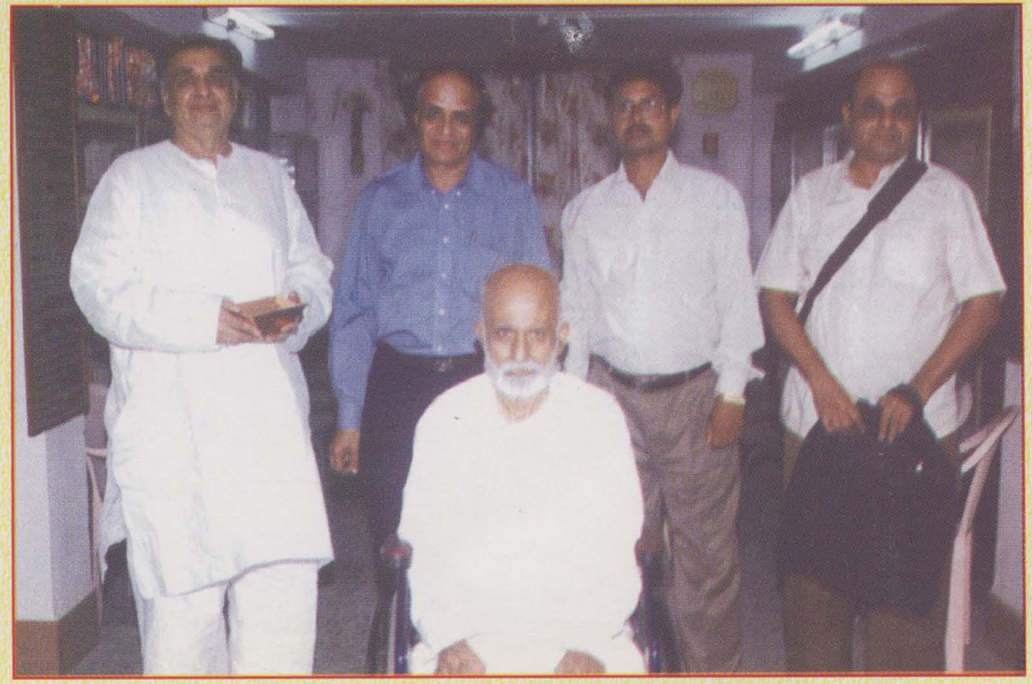

क्रमश: बायें से श्री अजित कासलीवाल, श्री मन्मथ पाटनी, डॉ. अनुपम जैन,
श्री नाइक एवं श्री बसंत परांजपे (बैठे हुए)

श्री बसंत परांजपे एवं श्री अजितकुमार सिंह कासलीवाल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

I.S.S.N 0971-9024

अर्हत् वचन भारत सरकार के समाचार-पत्रों के महापंजीयक से प्राप्त पंजीयन संख्या 50199/88

स्वामी श्री दि. जैन उदासीन आश्रम ट्रस्ट, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इंदौर से देवकुमारसिंह कासलीवाल द्वारा 584, महात्मा गांधी मार्ग, इंदौर से प्रकाशित एवं **सुगन ग्राफिक्स**, सिटी प्लाजा, म.गां. मार्ग, इंदौर (फोन - 2538283) द्वारा मुद्रित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानद सम्पादक - डॉ. अनुपम जैन